राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक—पुरातत्त्वाचार्य जिनविजय मुनि

[सम्मान्य सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर]



ग्रन्थाङ्क २३

महामहोपाध्याय प० दुर्गाप्रसादद्विवेदविरचितं

दशकण्ठवधम्

नाम रामचरितम्

स्वोपज्ञसाधुशुद्धिटीकासमन्वितम्



प्रकाशक

राजस्थान राज्य-संस्थापित

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

RAJASTHAN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE JODHPUR

जोधपुर (राजस्थान)

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यत अखिल भारतीय तथा विशेषत राजस्थानदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषानिबद्ध
विविध वाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट ग्रन्थावलि

प्रधान सम्पादक

पुरातत्त्वाचार्य जिनविजय मुनि

[ऑनरेरि मेम्बर ऑफ जर्मन ओरिएन्टल सोसाइटी, जर्मनी]

सम्मान्य सदस्य

भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर, पूना, गुजरात साहित्य-सभा, अहमदाबाद
विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, निवृत्त सम्मान्य नियामक-
(आनरेरि डायरेक्टर), भारतीय विद्याभवन, बम्बई

ग्रन्थाङ्क २३

महामहोपाध्याय प० दुर्गाप्रसादद्विवेदविरचित

दशकण्ठवधम्

नाम रामचरितम्

स्वोपज्ञसाधुशुद्धिटीकासमन्वितम्

प्रकाशक

राजस्थान राज्याज्ञानुसार

सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

महामहोपाध्याय प० दुर्गाप्रसादद्विवेदविरचितं

दशकण्ठवधम्

नाम रामचरितम्

स्वोपज्ञसाधुशुद्धिटीकासमन्वितम्

सम्पादक

श्री गङ्गाधर द्विवेदी

साहित्याचार्य, व्याकरणतीर्थ, विद्यारत्न

व्याख्याता, महाराज संस्कृत कालेज, जयपुर

प्रकाशनकर्त्ता

राजस्थान राज्याज्ञानुसार

सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

विक्रमाब्द २०१७ | भारतराष्ट्रीय शकाब्द १८८२ | खिस्ताब्द १९६०

प्रथमावृत्ति १००० | मूल्य ४ ००

मुद्रक—मूल पाठ, पृ० १ से १४० प्रभात प्रेस, जयपुर, पृ० १४१ से १५६ अजन्ता प्रिंटर्स, जयपुर और शेष स   ाधना प्रे॰, जोधपुर।

राजस्थान पुरातन ग्रन्थ-माला

प्रधान सम्पादक—पुरातत्त्वाचार्य मुनि श्री जिनविजयजी

++++++++++

प्रकाशित ग्रन्थ

१—संस्कृत ग्रन्थ

१ **प्रमाणमंजरी** तार्किकचूडामणि सर्वदेवाचार्य सम्पादक—मीमांसा न्यायकेसरी पं० पट्टाभिराम शास्त्री विद्यासागर। मूल्य—६ ००

२ **यन्त्रराजरचना**, महाराजा सवाई जयसिंह कारित। सम्पादक—स्व० पं० केदारनाथ, ज्योतिर्वित। मूल्य—१ ७५

३ **महर्षिकुलवैभवम्** स्व० पं० मधुसूदन ओझाप्रणीत सम्पादक—म०म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी। मूल्य—१० ७५

४ **तर्कसंग्रह**, अन्नंभट्ट, सम्पादक—डा० जितेन्द्र जेटली एम ए, पी-एच डी मूल्य—३ ००

५ **कारकसंबंधोद्योत** पं० रभसनन्दी सम्पादक—डा हरिप्रसाद शास्त्री, एम ए, पी एच डी, मूल्य—१ ७५

६ **वृत्तिदीपिका**, मौनिकृष्ण भट्ट सम्पादक—पं० पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी साहित्याचार्य। मूल्य—२ ००

७ **शब्दरत्नप्रदीप**, अज्ञात कर्तृक सम्पादक—डा हरिप्रसादशास्त्री, एम ए पी एच डी। मूल्य—२ ००

८ **कृष्णगीति**, कवि सोमनाथ सम्पादिका—डॉ प्रियबाला शाह एम ए, पी एच डी, डी लिट्। मूल्य—१ ७५

९ **नृत्तसंग्रह**, अज्ञातकर्तृक, सम्पादिका—डॉ प्रियबाला शाह, एम ए, पी एच डी, डी लिट्। मूल्य—१ ७५

१० **शृङ्गारहारावली**, श्री हर्ष कवि-रचित, सम्पादिका—डा प्रियबाला शाह, एम ए पी एच डी, डी लिट्। मूल्य—२ ७५

११ **राजविनोद महाकाव्य**, महाकवि उदयराज, सम्पादक—पं श्री गोपालनारायण बहुरा, एम ए, उप सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर। मूल्य—२ २५

१२ **चक्रपाणिविजयमहाकाव्य** भट्ट लक्ष्मीधर विरचित, सम्पादक—केशवराम काशीराम शास्त्री। मूल्य—३ ५०

१३ **नृत्यरत्नकोश (प्रथम भाग)** महाराणा कुम्भकर्ण रचित, सम्पादक—प्रो रसिकलाल छोटालाल पारीख तथा डॉ० प्रियबाला शाह, एम ए पी एच डी, डी लिट। मूल्य—३ ७५

१४ **उक्तिरत्नाकर**, साधुसुन्दर गणी विरचित, सम्पादक—पुरातत्त्वाचार्य श्री जिनविजय मुनि। सम्मान्य संचालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर। मूल्य—४ ७५

१५ **दुर्गापुष्पाञ्जलि**, म०म० पं० दुर्गाप्रसाद द्विवेदीकृत, सम्पादक पं० गङ्गाधर द्विवेदी, साहित्याचार्य। मूल्य—४ २५

१६ **कणकुतूहल**, महाकवि भोलानाथ विरचित सम्पादक–प० श्री गोपालनारायण बहुरा, एम ए, उप–सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर। इसी ग्रथकार की अपर कृति 'श्रीकृष्णलीलामत' सहित। मूल्य–१ ५०

१७ **ईश्वरविलास–महाकाव्य**, कविकलानिधि श्रीकृष्ण भट्ट विरचित, सम्पादक–श्री मथुरानाथ शास्त्री, साहित्याचाय, जयपुर। मूल्य–११ ५०

१८ **रसदीर्घिका** कवि विद्याराम प्रणीत, सम्पादक–प०श्री गोपालनारायण बहुरा, उप सञ्चालक राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर। मूल्य–२ ००

१९ **पद्यमुक्तावली**, कविकलानिधि कृष्ण भट्ट सम्पादक–प० श्री मथुरानाथ शास्त्री साहित्याचाय। मूल्य–४ ००

२० **काव्यप्रकाशसकेत**, सामेश्वर भट्ट कृत, सम्पादक–श्री रसिकलाल छो० परीख भाग १ मूल्य–१२ ००

२१ ,, ,, ,, भाग २ मूल्य– ८ २५

२२ **वस्तुरत्नकोश**, अज्ञात कत क, सम्पादिका–डा प्रियबाला शाह। मूल्य–४ ००

२३ **दशकण्ठवधम** प० दुर्गाप्रसाद द्विवेदी कृत, सम्पादक प० गङ्गाधर द्विवेदी, मूल्य–४ ००

२–राजस्थानी और हिन्दी ग्रन्थ

१ **का हडदे प्रब ध**, महाकवि पद्मनाभ रचित, सम्पादक–प्रो के बी व्यास, एम ए। मूल्य–१२ २५

२ **क्यामखा रासा**, कविवर जान रचित, सम्पादक–डा दशरथ शर्मा और श्री अगरच द भवरलाल नाहटा। मूल्य–४ ७५

३ **लावारासा** चारण कविया गोपालदानविरचित, सम्पादक–श्री महताबच द खारैड। मूल्य–३ ७५

४ **वाँकीदासरी ख्यात**, कविवर बाकीदास, सम्पादक–श्री नरोत्तमदास स्वामी, एम ए। मूल्य–५ ५०

५ **राजस्थानी साहित्यसग्रह, भाग १**, सम्पादक–श्री नरोत्तमदास स्वामी एम ए। मूल्य–२ २५

६ **कवी द्रकल्पलता**, कवी द्राचाय सरस्वती विरचित सम्पादक–श्रीमती रानी लक्ष्मीकुमारी चूडावत। मूल्य–२ ००

७ **जुगलविलास**, महाराजा पथ्वीसिह कृत, सम्पादिका–श्रीमती रानी लक्ष्मीकुमारी चडावत। मूल्य–१ ७५

८ **भगतमाळ**, ब्रह्मदासजी चारण कृत सम्पादक–उदराजजी उज्ज्वल मूल्य–१ ७५

९ **राजस्थान पुरातत्व म दिरके हस्तलिखित ग्र थो की सूची—भाग १** मूल्य–७ ५०

१० **राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान की सूची** **भाग २** मूल्य–१२ ००

११ **मुहता नणसीरी ख्यात भाग १**, मुहता नणसी कृत, सम्पादक–श्री बदरीप्रसाद साकरिया मूल्य–८ ५०

१२ **रघुवरजसप्रकास**, **किसनाजी आढ़ा कृत**, सम्पादक–श्री सीताराम लाळस मूल्य–८ २५

१३ **राजस्थानी हस्तलिखित ग्र थोकी सूची, भाग १**, सम्पादक–श्री मुनि जिनविजय। मूल्य–४ ५०

१४ **वीरवाण**, ढाढी बादर कृत, सम्पादिका–श्रीमती रानी लक्ष्मीकुमारी चूडावत। मूल्य–४ ५०

प्रेसो मे छप रहे ग्रथ

सस्कृत ग्रथ

१	शकुनप्रदीप लावण्य शमा रचित	सम्पादक—मुनि श्रीजिनविजयजी
२	त्रिपुरा भारती लघुस्तव धर्माचाय प्रणीत	,, ,, ,,
३	करुणामतप्रपा, ठक्कुर मोमेश्वर-विनिर्मित	,, ,,
४	बालशिक्षाव्याकरण ठक्कुर सग्रामसिह विरचित	, ,, ,
५	पदाथरत्नमजूषा, प० कृष्ण मिश्र रचित	,, ,, ,,
६	वस तविलास फागु अज्ञात कत क	,, एम सी मोदी
७	न दोपाख्यान, अज्ञात कत क	,, ,, बी जी साडेसरा
८	चान्द्रव्याकरण, आचाय च द्रगोमि विरचित	, श्री बी डी दोशी
९	वत्तजातिसमुच्चय, कवि विरहाङ्क विनिर्मित	,, ,, एच डी वणलकर
१०	कविदपण अज्ञात कत क	, ,, ,,
११	स्वयम्भूछ द कवि स्वयम्भू विनिर्मित	,, ,, ,
१२	प्राकृतान द, रघुनाथ कवि रचित	,, मुनि श्री जिनविजयजी
१३	कविकौस्तुभ, प० रघुनाथ विरचित	,, श्री एम एन गोरी
१४	नत्यरत्नकोश, भाग २, महाराणा कुभा प्रणीत	,, डा प्रियबाला शाह
१५	भुवनेश्वरी स्तोत्र (सभाष्य), पथ्वीधराचाय रचित	,, श्री गोपालनारायण बहुरा
१६	इन्द्रप्रस्थ प्रब ध	, डा दशरथ शर्मा

२—राजस्थानी और हि दी ग्रन्थ

१७	मुहता नणसी री रयात, भाग २, नैणसी मुहता	सम्पादक—श्री बदरीप्रसाद साकरिया
१८	गोरा बादल पदमिणी चउपई, कवि हेमरतन विनिर्मित	सम्पादक—श्री उदयसिह भटनागर
१९	राजस्थान मे सस्कृत साहित्य की खोज मूल लेखक श्री आर एस भण्डारकर	अनुवादक—श्री ब्रह्मदत्त त्रिवेदी ।
२०	राठोडारी वशावली	सम्पादक—मुनि श्री जिनविजयजी
२१	सचित्र राजस्थानी भाषा साहित्य ग्र थ सूची	, ,, ,,
२२	मीरां बहत पदावली	,, विद्याभूषण स्व पुरोहित हरिनारायणजी द्वारा सकलित
२३	राजस्थानी साहित्य सग्रह, भाग २ (देवजी बगडावत और प्रतापसिंह वार्ता आदि)	सम्पादक श्री पुरुषोत्तमलाल मेनारिया
२४	पुरोहित बगसीराम हीरा और अ य वार्ताए	,, श्री लक्ष्मीनारायण गोस्वामी

इन ग्र थोके अतिरिक्त अनेकानेक सस्कत, राजस्थानी और हि दी भाषाके ग्रथोका सशोधन और सम्पादन किया जा रहा है।

'राजस्थान पुरातत्त्व' नामसे एक शोध-पत्र (जनल) निकालनेकी योजना भी विचाराधीन है।

सञ्चालकीय वक्तव्य

भारतीय साहित्यमे संस्कृत काव्य-ग्रन्थोका विशेष महत्त्व है। यो तो अनेक संस्कृत काव्य-ग्रन्थ विद्वत्-समाजमे समादरणीय है किंतु वाल्मीकि, भवभूति, हर्ष, माघ और कालिदास जैसे महाकवियोके काव्योकी सुख्याति देश-विदेशके समस्त काव्य-प्रेमियो तक प्रसृत हो चुकी है। यही नही, इनके काव्योके देश-विदेशकी कई भाषाओमे रूपान्तर और व्याख्यान भी प्रकाशित हो चुके है। संसारके प्रमुख देशोमे, सर्वत्र ही संस्कृत-काव्यो और नाटकोका अध्ययन-अध्यापन, सम्पादन प्रकाशन और अभिनयादि-प्रवृत्तिया लोगो की विशेष रुचि से गतिशालिनी है।

राजस्थान प्रदेश भारतीय सभ्यता एवं विद्याका विशेष क्षेत्र रहा है। यहाँके अनेक शासक स्वयं रसिक साहित्य प्रणेता और साहित्यकारोके आश्रयदाता रहे है। राजस्थानी जनता भी विद्याभिरुचिमे किसीसे पीछे नही रही है। यही कारण है कि राजस्थानमे साहित्यिक सामग्री प्रचुर मात्रामे उपलब्ध होती है।

प्रस्तुत महाकाव्यके प्रणेता स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित दुर्गाप्रसादजी द्विवदी पूर्व जयपुर-राज्यके आश्रित थे। प्रगाढ पाण्डित्य एवं साहित्यिक प्रतिभाके लिए सरकारकी ओरसे उन्हे विशेष मान एवं प्रोत्साहन प्राप्त था। द्विवदीजी कृत दशकण्ठवधम् (चम्पू) रामचरित्र-विषयक एक सरस काव्य-कृति है जिसका प्रकाशन विद्वत् समाजमे चिरप्रतीक्षित था। 'राजस्थान पुरातन ग्रन्थ-माला" के २३वें ग्रंथके रूपमे इस काव्यका प्रकाशन हो रहा है।

स्वर्गीय महामहोपाध्यायजी रचित एक और ग्रन्थ दुर्गा-पुष्पाञ्जलि' भी इस ग्रन्थमालामे प्रकाशित हो चुका है। इन दोनो ही ग्रन्थोके सम्पादक ग्रन्थकारके पौत्र श्री गङ्गाधर द्विवेदी, साहित्याचार्य है। ग्रन्थकर्ताके जीवनवृत्त एवं रचनाएँ आदि विषयो पर 'दुर्गापुष्पाञ्जलि' के सम्पादकीय लेखमे पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है।

आशा है कि संस्कृत काव्य-प्रेमियोमे इस कृतिका समुचित आदर होगा।

महा शिवरात्रि सं० २०१६ वि०
भारतीय विद्या भवन,
बम्बई

मुनि जिनविजय
सम्मान्य सञ्चालक
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान,
जोधपुर

विषय-तालिका





महामहोपाध्यायपण्डितश्रीदुर्गाप्रसादद्विवेदविरचितम्

दशकण्ठवधम्

नाम

रामचरितम्

तदोपदार्थस्य वरेण्यमेतकद् देवस्य भर्गः सवितुः प्रधीमहि ।
ब्रह्मादिरूपत्रितयोपसंहृतिर्यो नो धियः कर्मभुवि प्रचोदयात् ॥

साधुशुद्धिः ।

को मत्स्यादि निषेवितु निविशते नानावतारान्तरे
को वा न्यूनतयावधारितमहस्याश्वाममायास्यति ।
शृङ्गारोदयदीपितोऽपि चरमे नालम्बते गौरव
चेतः केवलमेकमेव मनुते श्रीरामभद्र हरिम् ॥१॥

दशकण्ठवध नाम चरितं रामवर्मणः ।
यत्र विन्यस्यते साधुशुद्धिर्लाभाय शर्मणः ॥२॥

एतदुच्छृङ्खल ब्रह्मन् ! मनश्चेद् रावणायते ।
तदानीमिन्द्रियग्रामो दशकण्ठायते ध्रुवम् ॥३॥

दण्डान्वयक्रमेणात्र तथार्थान् प्रारभामहे ।
यथा न सज्जतेऽहन्ता ससारैकफले महे ॥४॥

इहामुत्रानुरक्ताना किमन्यद् वासनावहम् ।
उभयत्र विरक्तानां किमन्यद् वासनावहम् ॥५॥

अथ दशकण्ठवधाख्यरामचरित प्रारिप्सु -'मङ्गलाचरण शिष्टाचारात् फल-दर्शनात् श्रुतितश्चेति' सा० द० ५ १) इति प्रमाणयन् सच्चिदानन्दलक्षण परमात्मान परामृशति—

तदिति। ॐ पदार्थस्य प्रणवशब्दस्य। 'तस्य वाचक प्रणव' (यो० द० १ २७) इति पतञ्जलि। अवतीति ओम्। अव रक्षणादौ। 'अवतेष्टिलोपश्च' इत्यौणादिको मन्। वेदितव्य वेदनसाधन च-'शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्या सात् सकरस्तत्प्रविभागसयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्' (यो० द० ३ १७)। तथा च गीतासु पठ्यते-'ओमित्येकाक्षर ब्रह्म' (८ १३) इति। शिवमहिम्नि-'समस्त व्यस्त त्वा शरणद! गृणात्योमिति पदम्।' इति च। व्यस्तपक्षे-अकार उकारो मकार इति तदवयवा। 'अकार चाप्युकार च मकार च'-(मनु० २ ७६) इति मनु। दीव्यतीति देव। पचाद्यच्। तस्य। सुवति प्रेरयतीति सविता। षू प्रेरणे। तृच्। तस्य। 'विश्वानि देव! सवित!' (शु० य० स० ३० ३) इति श्रुत्यन्तरम्। तदेतकद्। 'अव्ययसर्वनाम्नामकच्प्राक्टे' (पा० सू० ४ ३ ७१) इत्यकच्। तदिद् सकलान्तर्यामितया परोक्षापरोक्षमिति तत्त्वम्। वरेण्यम् अभ्यर्थनीयम्। भर्जते इति भर्ग तेज। भृजी भर्जने। 'अञ्च्यञ्जियुजिभृजिभ्य कुश्च' इत्यौणादिकोऽसुन्। प्रधीमहि सम्यग् ध्यायेम। ध्यै चिन्तायाम्। क्वचित्-'सत्य पर धीमहि' (वि० भा० १ १ १) 'त्रियम्बक सयमिन ददर्श' (कुमा०स०३ ४४) इत्यादिवत् लोकेऽपि विशिष्टप्रतिपत्तये छान्दसप्रयोग। अन्यथा-'ध्यायेम सत्य परम्' यद्वा-'सत्य पर मन्महे' इति-'त्रिलोचन' किं वा-'त्रिचक्षुष' इति च प्रयोजयेत्।

सर्वे वयमुपासका उक्तलक्षण भर्ग सप्रज्ञातासप्रज्ञातयोगाभ्यामाकलयेमहीति तात्पर्यम्। प्रवर्तनाया लिङ्। लिङ्वाच्यप्रवर्तनया प्रवृत्तिनिष्पत्तौ तु लडेव। अभेदवादे तु तदात्मतासमापत्त्या वयमितरै प्रध्यायेमहीत्यप्यनुसधेयम्।

आत्मा हि चिद्रूप एको विभुर्नित्यश्चास्ति। स्वयप्रकाशत्वात् सजातीयादिभेदशून्यत्वात् सर्वगतत्वाद् अनाद्यनन्तत्वाद् यावद्भेदकजालस्य जडत्वाच्च। ततश्चैतन्यात्मनो विराट्शरीरत्वमव्याहतम्। तथा चोक्तम्-

'एक स आत्मनासौ न हि क्रमोऽस्तीह देशकालाभ्याम।
भेदिनि मिथ स युक्तश्चेत्ये भेदाश्रय खलु स॥'

(विरूपाक्षपञ्चा० २ १२)

इतरथा-

'उत्क्रम्य विश्वतोऽङ्गात् तद्भागैकतनुनिष्ठिताहन्त।
कण्ठलुठत्प्राण इव व्यक्त जीवन्मृतो लोक॥'

(विरूपाक्षपञ्चा० १ ५)

इति यथादर्शनभेदावमर्शनदुष्परिणामो व्यक्त एव। इतो वैशेषिकदर्शने प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं चार्वाकादिमुखमुद्रणाय प्रथमभूमिकायामेवात्मा परीक्षित इति द्रष्टव्यम्। अन्यथायमात्मा करणगुणसम्पृक्तः कथमिव वर्ण्येत। श्रुति-स्मृतिषु युक्तिप्रमाणाभ्यां निर्गुणत्वेन निरूपितत्वात्। समानतन्त्रे न्यायेऽपि प्राधान्येन कथककथैवावतारिता। अथवा अस्तु बालानां सुखबोधायारम्भवाद इवान्तःकरणसबन्धेनात्मगुणवादः। मन्ये, साङ्ख्यदर्शने द्वितीयभूमिकायामात्मा परीक्षित इति। यस्मात् 'असङ्गोऽयं पुरुषः' (सा० द० १ १५) इति सूत्रयता भगवता श्रुति-स्मृतिसिद्धान्तितमात्मनो निर्गुणत्वमेव प्रतिपादितम्। सुखावबोधाय लौकिकदृशा तु–

'जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥' (सा० का० १८) इति।

किमियता–'ईश्वरासिद्धेः' (साङ्ख्यद० १ ९२) इति सूत्रयतापि महामुनिना–

'एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥' (सा० का० ६४)

इति भावनया 'विज्ञानं ब्रह्मे'ति रहस्यमुन्मीलितमेव। समानतन्त्रे योगे तु 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (यो० द० १ २४) इत्यादिना यथाप्रसङ्गं प्रणववाचकं वस्तूपक्षिप्तमेव। मीमांसयोस्तु धर्मब्रह्मोपासने उपबृंहयद्भ्यामपि जैमिनि पाराशर्याभ्यां वेदपुरुषव्यपदेशेन चरमभूमिकायामात्मा सुपरीक्षित एव। इत्थं च–'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (वे० द० १ ५) इत्यादिना परमाणुप्रकृतिवादादिनिरसनपुरःसरं वेदवर्त्मना तर्क-साङ्ख्य योगपदार्थान् पश्यद्भिरेकमेवात्मतत्त्वं निश्चेतव्यम्। अतएव–

'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्॥
तत्कारणं साङ्ख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥' (श्वेता० ६ १३)

इत्यादि श्रुतिसन्दर्भेण क्वचिदभ्युपगमवादेन भिन्नप्रणालिकोऽपि तर्क साङ्ख्ययोगप्रवाहो वेदप्रणालिकस्यैव नीतो नेतव्यश्च विभावनीय इति दिक्।

ब्रह्मा कार्यब्रह्मा चतुराननादिपदव्यपदेश्य आदिः प्रथमः येषां तेषामुत्पत्तिस्थितिसंहारघटकानां रूपाणां त्रितयस्य त्रयस्य उपसंहृतिः उपसंहारोऽन्तर्भावो यस्मिन् सः। 'सङ्ख्याया अवयवे तयप्' (पा० सू० ५ २ ४२)। श्रूयते च–

'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥' (श्वेता० ६ १८)

यः सविता अन्तर्यामी । नः अस्माकं प्रमातॄणाम् । धियः धीपदोपस्थाप्यान्तःकरणं तदधीनबुद्धिकर्मेन्द्रियाणि । कर्मभुवि–व्यवहारदशायाम् । प्रचोदयात् प्रेरयति । लडर्थे लेट् । तथा च–'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३ १ ८५) इति वृत्तिभाष्यगतम्–

'सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च ।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि हि सिध्यति बाहुलकेन ॥' इति ।

तदुपबृंहणं 'क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।' इति बाहुलकविवरणं च यथाङ्गोपाङ्गगतिकं वेदवस्तूद्धर्तुमेव शरणं मन्तव्यं न पुनस्तन्नवनवं मनीषितं वर्त्म नेतुमिति । अन्यथा वेदगव्या मातरि पुरुषायितं स्यात् । अत्र सवितुः भर्ग इति पुरुषस्य चैतन्यमितिवदभेदे षष्ठीति सङ्क्षेपः । वंशस्थेन्द्रवंशयोरुपजातिः ॥१॥

इदानीं परमात्मनः प्रधानशक्तिकार्यं निर्दिशंस्तस्यान्वेष्टव्यत्वमादिशति–

ब्रह्मत्वमापादनरागरञ्जितो विष्णुत्वमाप्यायनकेलिकर्मठः ।
रुद्रत्वमादानकलावलम्बितो योऽभ्येति मायी स साधु मृग्यताम् ॥२॥

ब्रह्मत्वमिति । यः अन्तर्यामी, माया अघटितघटनापटीयसी अस्यास्तीति मायी । व्रीह्यादित्वादिनिः । मायावी इव । अस्ति जायते इति बीजाङ्कुरमर्यादया यद् आपादनं कार्यघटनं तत्र यो रागोऽनुरागः, तेन रञ्जितः अभिनिविष्टः सन् । ब्रह्मत्वं ब्रह्मभावम् । अभ्येति प्रयाति । विपरिणमते वर्धते इति यत् पल्लवादिरूपेण कार्यस्य आप्यायनं परिपोषणं तस्य या केलिः तदनुगुणनिभालनं तत्र कर्मठः कर्मशूरः सन् । विष्णुत्वं विष्णुदशाम् । अभ्येति प्राप्नोति । अपक्षीयते नश्यतीति पल्लवादिविस्फारसंकोचक्रमेण यद् आदानं कार्यस्य कारणाभिमुखीभवनं तस्य कलायां कलनाव्यापारे अवलम्बितः प्रतिष्ठितः सन् । रुद्रत्वं रुद्रावस्थाम् अभ्येति गच्छति । सः एकस्वभावोऽपि नामरूपप्रथया भिन्नभिन्न इव प्रतीयमानः । साधु सोद्योगम् । मृग्यताम् अन्विष्यताम् । मृग अन्वेषणे । कर्मणि लोट् ।

ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिजानाना एकस्मादेव ब्रह्मणो जगतो जन्म स्थिति भङ्गमुपदिशन्ति । तत्रोत्थाप्याकाङ्क्षया हरिहरादिपदाक्षेपेण ब्रह्मजिज्ञासा नाकुलीकर्तव्या । श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात् । यदि तथाभिप्रायोऽभविष्यत् तर्हि हरिहरादिष्वन्यतः

पाठेनैवापठिष्यत्। तथा च–'तत्र निरतिशय सार्वज्ञबीजम्' (यो० द० १ २५) इति सूत्रे योगवार्तिके–

"हरिहरादिसञ्ज्ञामूर्तयस्तु शक्तिशक्तिमदाद्यभेदेनोपासनार्थमेव परमेश्वरस्योच्यन्ते न तु साक्षादेव।"

इतो माण्डूक्यादुपज्ञातो विराड् हिरण्यगर्भ प्राज्ञ विभागोऽपि यथोत्तर सारग्राही ब्रह्मण एकत्वमेव बोधयति। श्रुति स्मृतिनीत्या आत्मब्रह्मेश्वरा पर्याया इति मनोहृत्य मीमासनीयम्। एतदभिधेयरूढाना शब्दानामैकमत्येऽपि जाति गुण क्रिया यदृच्छासश्लेषेण पार्थक्यम्। तत्र शरीरिणि भौतिकस्य शरीराशस्य व्यपगम इव चिदैक्यामर्शानुमानानुभवाभ्यामेकत्वमेवोपपद्यते। अतएव भगवता पाराशर्येण पुराणेतिहासेषु पञ्च देवोपास्तिमभिदधतापि पञ्चायतनीन्यायेन पर्यायात् पञ्चानामपि गौणमुख्यभाव वर्णयता तदेकतायामेवावस्थायि। अन्यथा तत्र मूढत्वारोपेणास्माभिरेव प्रत्यवेतव्यम्। इह हरिहरादिसहस्रनामस्वपि विशेषण विशेष्यसगत्या भेदकनाम्ना समवाये भेद, अभेदकाना त्वभेद इत्यन्यत्र विस्तर। इन्द्रवशा वृत्तम्॥२॥

इदानी विशेषवर्तनशालिनि विवर्ते परिणमनयोगिनि परिणामे वा परमात्मन ऐश्वर्येष्ववतारावतसमुपश्लोकयति–

बीज धर्मद्रुमस्यावनिरुपनिषदामास्पद दर्शनाना–
मास्थान मङ्गलानामुपवनमतुलानन्दमाकन्दकानाम्।
स्फूर्जत्पीयूषवृष्टिः कलिकलुषकथाक्लेशसतापभाजा
प्रत्याख्यान रिपूणा चिरमवतु जगज्जानकीजानिरेकः॥३॥

बीजमिति। पतन्त जनमालम्बनीभूय धरतीति धर्म। औणादिको मन्। तथा च श्रुति –

"धर्मो विश्वस्य जगत प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठ प्रजा उपसर्पन्ति।
धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठित, तस्माद् धर्म परम वदन्ति॥" इति।
(तैत्ति० आर० १० प्रपा० ६३ अनु०)

तथा-'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म' (मी० द० १ १ २) इति जैमिनि। अथ हि फलदर्शनरूपेण–'यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धि स धर्म' (वै० द० १ १ २) इति कणादेनासूत्रि। सोऽय प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च। तत्र प्रथम कल्पसूत्र-

गृह्यसूत्र मन्वादिस्मृति पुराणेतिहासेषु प्रतिपादित । इह कल्पसूत्रादिपञ्चके यथोत्तर दौर्बल्यमित्यनुसधेयम् । द्वितीयस्तूपनिषद् ब्रह्मसूत्र स्मृति पुराणेतिहासेषु निरूपित । इह तु पञ्चके ईश केन कठ प्रश्न मुण्ड माण्डूक्य तैत्तिरीय-छान्दोग्य बृहदारण्यकैतरेय-श्वेताश्वतरकैवल्याद्य कतिपया एवोपनिषदो हृदयगमा । अन्यास्तु कालवशाद् बहुत्र सदिग्धा दृश्यन्ते । इयमेवावस्था मनुयाज्ञवल्क्यस्मृती अपहाय स्मृत्यन्तरे, विष्णु मार्कण्डेयौ विहाय पुराणान्तरे, रामायण-महाभारत-योश्चापि क्वचित्क्वचिद् दृश्यते । ब्रह्मसूत्रादिषडदर्शनानि तु साकल्येन सम्यञ्चीति सर्वं यथायथ परीक्षणीयम् ।

धर्म एव द्रुम । मयूरव्यसकादि । धर्मो द्रुम इव इति वा । धर्मवटक त्वात् । धर्मद्रुमस्य बीज हेतु । तथा चास्माभिरुपदिश्यते राज्ञ प्रति–

"राष्ट्रे पुरे ग्रामटिकान्तरे च धर्मप्रचाराय सदा यतध्वम् ।
य आश्रयीभूय विधीयमानो जन पतन्त धरतीति रूढि ॥

(चातुवर्ण्यशि० ७२ श्लो०)

इति । उपनिपूर्वात् सदे कर्तरि क्विपि उपनिषद् –मन्त्रब्राह्मणलक्षणस्य वेदस्य भागा । यथा वाजसनेयिमन्त्रसहितायाश्चत्वारिंशोऽध्याय ईशावास्योपनिषद् वाजसनेयिब्राह्मणस्य शतपथस्य चतुर्दश काण्डो बृहदारण्यकोपनिषद् । अरण्ये पाठ्यत्वाद् आरण्यकमिनि सज्ञा । यदाहु –

"अत्र चोपनिषच्छब्दो ब्रह्मविद्यैकगोचर ।
तच्छब्दावयवार्थस्य विद्यायामेव सभवात् ॥
उपोपसर्ग सामीप्ये तत्प्रतीचि समाप्यते ।
सामीप्यतारतम्यस्य विश्रान्ते स्वात्मनीक्षणात् ॥
त्रिविधस्य सदर्थस्य निशब्दोऽपि विशेषणम् ।
उपनीय तमात्मान ब्रह्मापास्तद्वय तत ॥
निहन्त्यविद्या तज्ज च तस्मादुपनिषद् भवेत् ।
निहन्त्यानर्थमूल स्वाविद्या प्रत्यक्तया परम् ॥
गमयत्यस्तसभेदमतो वोपनिषद् भवेत् ।
प्रवृत्तिहेतून्नि शेषास्तन्मूलोच्छेदकृत्वत ॥
यतोऽवसादयेद् विद्या तस्मादुपनिषद् * भवेत् ।" इति ।

---

* अत्रेदमप्यनुसधेयम्—उपनिषच्छब्दो ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारविषय । उपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' इत्यस्य धातोरुप-

उपनिषदाम् अयनि प्रादुर्भावस्थानम् । दर्शनाना शास्त्राणाम् आस्पद प्रतिष्ठा । मङ्गलाना श्रेयसाम् । आस्थान ससद् । अतुला निरुपमा आनन्दा एव माकन्दका सहकारा आम्रविशेषा । तेषाम् उपवनम् आराम । कलौ कलेर्वा कलुषा मलिना कथा वाक्यप्रबन्धा ताभिर्ये क्लेशा –अविद्या स्मिता राग द्वेषाभिनिवेशा पुराणेतिहासयो तमो-मोह महामोह तामिस्रान्धतामिस्रसञ्ज्ञाभिर्वर्णिता, तै सताप भजन्तीति तेषाम् । भजो ण्वि । स्फूर्जन्ती भासमाना पीयूषस्य सुधाया वृष्टि वर्षा । रिपूणाम् अन्त सचारिणा काम-क्रोध लोभ मोह मद मात्सर्याख्याना षण्णाम् एतत्ससर्गेण परेषा रावणादिदुर्विनीताना च प्रत्याख्यान निराकृति । अतएव एकोऽद्वितीय । तथा चोद्घुष्यते सुन्दरकाण्डे वायुसूनुना–

'जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबल ।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालित ॥'

(वाल्मी रा यु का ४२ २०)

जनयति ब्रह्मविद्याम् उपपादयतीति जनको विदेह । ण्वुल् । 'जनिवध्योश्च' (पा० सू० ७ ३ ३५) इति निषेधाद् वृद्धिप्रतिषेध । विदेहेत्यत्र–'अशरीर वा वसन्त प्रियाप्रिये न स्पृशत' (छा० उ अध्या ८ स १२) इत्याद्यनुसधेयम् । तस्य राज्ञोऽपत्यमयोनिजा जानकी । अस्या अयोनिजत्व तु सीतेत्यौपचारिकनाम्नापि व्यक्तम् । जानकी जाया पत्नी अस्येति जानकीजानि । 'जायाया निङ्' (पा० सू० ५ ४ १३४) जङ्गम्यते इति जगत् स्थावरजङ्गमात्मक विश्वम् । चिर चिराय । अवतु रक्षतु । इहावतेरन्येऽप्यर्था यथासभवमुन्नेया । लोट् च (पा० सू० ३ ३ १६२) इति प्रार्थनाया लोट । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ३ ॥

निषदिति रूपम् । तत्रोपशब्द सामीप्यमाचष्टे । तच्च सकोचकाभावात् सर्वान्तरे प्रत्यगात्मनि पर्यवस्यति । निशब्दो निश्चयवचन । सोऽपि तत्तत्त्वमेव निश्चिनोति तन्नैकट्यवाच्युपशब्दसामानाधिकरण्यात । तस्माद् ब्रह्मविद्यास्वसशीलिना ससारसारतामति सादयति विषादयति शिथिलयतीति वा परमश्रेयोरूप प्रत्यगात्मान सादयति गमयतीति वा दु खजन्मप्रवृत्त्यादिमूलाज्ञान सादयत्युन्मूलयतीति वोपनिषत्पदवाच्या । सैव प्रमाणम् । तस्या प्रमारूपाया करणभूत सर्वशाखासूत्तरभागेषु पठ्यमानो ग्रन्थराशिरप्युपचारात् प्रमाणमित्युच्यते । स्पष्टश्चायमर्थो बृहदारण्यकभाष्यादिषु ॥

साम्प्रत महाराजस्य कलेस्तत्प्रकृतेश्च महिमानमुदीरयति—

निद्राणेव गुणज्ञता सरसता लीनेव मैत्रीप्रथा
छिन्नेव प्रलय गतेव महता वाक्येषु हेवाकिता ।
एका स्वार्थविकस्वराद्य वलते वैचित्र्यचर्या यया
निःशङ्क महितापि पूर्वसरणिः सद्यः समुत्सार्यते ॥४॥

विद्राणेति । गुणाना शौर्यादीना ज्ञता वेत्तृता विद्राणेव पलायितेव । निपूर्वाद् द्राते कर्तरि क्त । निष्ठानत्व णत्व च । सरसता सहृदयभाव । लीनेव लुक्कायितेव । मैत्री सख्य तस्या प्रथा निर्व्याजावस्थानम् । छिन्नेव विशीर्णेव । महता महापुरुषाणाम् । वाक्येषु उक्तिषु । हेवाकोऽभिलाषोऽस्यास्तीति हेवाकी तस्य भावस्तत्ता । श्रद्धेति यावत् । प्रलय गतेव विनाश प्राप्तेव । अद्य इदानीम् । एका केवला । स्वार्थेन आत्मनोऽभिलषितेन विकस्वरा भासुरा । विपूर्वात् कसते कर्तरि वरच् । विचित्रस्य भावो वैचित्र्यम् वैलक्षण्यम् । ष्यञ् । तस्य चर्या घटना वलते व्याप्नोति । वल सवरणे । यया वैचित्र्यचर्यया । महिता पूजितापि । पूर्वा पारम्परिकी । किं वा—

येनास्य पितरो याता येन याता पितामहा ।
तेन यायात् सता मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥ (मनु० ४ ७१८) इति

मनूपदेशेन पूर्वेषा पितृपितामहादीना सरणि आचारपद्धति । निर्गता अपक्रान्ता शङ्का आतङ्को यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात् तथा । सद्य अविलम्बित समुत्सार्यते परावर्त्यते । समुत्पूर्वात् सरतेर्णिजन्तात् कर्मणि लट् ॥ शार्दूल-विक्रीडित वृत्तम् ॥४॥

साम्प्रत भारतवर्षस्य अपकर्षमूलकान् पुरुषान् विभजन् निर्विण्णो भगवन्त प्रार्थयते—

एके मान्द्यजुष', परे परगुणच्छेदक्रियाकर्कशा
हन्तान्ये द्विरदेक्षिकाव्यसनिनो नि'मारमित्थ जगत् ।
इत्यालोच्य मुहुर्मुहू रघुकुलोत्तस ! प्रशसाश्रय !
ब्रह्मण्याद्भुतवीर्य ! केवलमदस्त्वामेव याचामहे ॥५॥

एक इति । एके मुख्या , प्रज्ञापराधेन । मन्दस्य कर्म भावो वा मान्द्यम् । 'मूढाल्पापटुनिर्भाग्यमन्दा स्यु' इत्यमर । तज्जुषन्ते सेवन्ते इति मान्द्यजुष । कर्तरि क्विप् । पितृपितामहादिसमुपार्जितसपद भुञ्जाना इति यावत् । परे अन्ये,

परे उत्कृष्टा वा, परेषा ये गुणा अभिलषणीया अन्त करणधर्मा तेषा छेदक्रिया दोषारोपणव्यापारा, तत्र कर्कशा निष्ठुरस्वभावा– 'योगिनो योगिना मध्ये भोगिनोऽपि च भोगिनाम् । विदुषामतिविद्वासो दुर्जना कैर्विनिश्चिता ॥' इत्येवप्राया महासस्थानविप्लावकाश्चाटुकारा । हन्तेति खेदे । अन्ये इतरे । द्वौ रदौ दर्शनार्हौ येषा ते द्विरदा मातङ्गा । तेषाम् ईक्षिका नयननिमीलिका तद्व्यसनिन । तद्वद् विलोकयितार इति तात्पर्यम् । प्रायो लक्ष्मीदुर्ललितप्रकृतय एवमनुभूयन्ते । इत्थ विवेचनेन जगत् निस्सार गतश्रीकम् । इति मुहुर्मुहु पौन–पुन्येन आलोच्य विविच्य । हे रघुकुलोत्त स ! रघूणा कुलम् अन्वय तस्य उत्तसो भूषणम्, तत्सबुद्धि । रघुशब्दो यदुशब्दवत् तदपत्ये लाक्षणिक । प्रशसाया आश्रय ! आधार ! मर्यादापुरुषोत्तमत्वात् । ब्रह्मणि साधु ब्रह्मण्य, तत्सबुद्धि । तत्र साधुरिति यत् । 'ये चाभावकर्मणोरि'त्यन प्रकृतिभाव । अत्र ब्रह्म वेदो ब्राह्मणश्च । शम्बूकनिग्रहेण ब्राह्मणबालरक्षणकथा प्रसिद्धैव । अद्भुतमाश्चर्यभूत वीर्यं यस्येति तत्सबुद्धि । अद्भुतत्व समुद्रनिग्रहादौ सुप्रसिद्धम् । अद केवल त्वामेव याचामहे अर्थयामहे । अदसा निर्देश्य प्रधान कर्म सबोध्यस्य अन्तर्यामित्वेनानुल्लिखितम् । एवकारेण दात्रन्तरव्युदास ॥५॥

साप्रतमादिकविं भगवन्त वल्मीकजन्मान स्मरति—

स्मरामि रामायणसर्गबन्धब्रह्माणमाबद्धरसप्रग्राहम् ।
योऽद्वैतसिद्धान्ततरङ्गिताया वेदान्तलक्ष्म्याः कुतुकान्यतानीत् ॥ ६ ॥

स्मरामीति । सप्तकाण्डात्मक क्रियाप्रधान षट्प्रकरणात्मक ज्ञानप्रधान चात्र रामायणपदार्थ । स्मरामि तदीयलोकोत्तरकविकर्मभावनेन त प्रति प्रह्वीभवामीति तात्पर्यम् । य आदिकवि अद्वैत जीवब्रह्मैक्यम् । लोके चेत्यचित्पदयोराभास्याभासकत्वेन पार्थक्याभ्युपगमेऽपि पर्यवसाने चित एव वस्तुत्वम् । अभिधीयतेऽपि रूपकेण–

'मायाख्याया कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ ।
यथेष्ट पिबता द्वैत तत्त्वमद्वैतमेव हि ॥' इति ।

अद्वैतस्य सिद्धान्ता वादिप्रतिवादिभ्या निश्चितार्था । तै तरङ्गिताया विचारिताया । इतच् । वेदान्तस्य उपनिषत्प्रमाणस्य लक्ष्म्या कुतुकानि कौतुकानि । अतानीत् अतनिष्ट । तनोते कर्तरि लुङ् ॥ इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोरुपजाति ॥ ६ ॥

साम्प्रत प्रकृतमुक्तिविशेष काव्यवस्तु निर्दिशति–

प्रसह्य सद्यो हृदय विशन्त.
कियन्त एवाद्भुतभङ्गिहृद्याः ।
पदे पदे कन्दलयन्ति राग
कान्ताकटाक्षा इव वाग्विलासाः ॥७॥

प्रसह्येति । किं प्रमाणमेषा ते कियन्त, कतिचिदेव न तु सर्वे । 'वाताधिका हि पुरुषा कवयो भवन्ति' इति निषेधस्मरणात् ।

'अधीत्य शास्त्राण्यभियोगयोगाद
भ्यासवश्यार्थपदप्रपञ्च ।
त त विदित्वा समय कवीना,
मन प्रसत्तौ कविता विदध्यात ॥' इति विधिश्रवणाच्च ।

अद्भुता हृदयावर्जिका या भङ्गी रचनाविशेष तया हृद्या हृदयगमा । हृदयस्य प्रिया हृद्या । यति हृदयस्य हृदादेश । 'भव्या' इति पाठे-भव्या उज्ज्वला । वाचा विलासा । कान्ताकटाक्षा इव । प्रसह्य बलात् । अव्ययम् । सद्य तत्क्षणम् । हृदय मानस विशन्त लभमाना । पदे पदे प्रतिपदम् । वीप्साया द्विर्भाव । पदम् सुप्तिङ्लक्षण चरणविन्यासश्च । रागम् अनुरागम् । कन्दलयन्ति अङ्कुरयन्ति । उत्पादयन्तीति यावत् । कन्दलशब्दात्–'तत्करोति तदाचष्टे' (ग० सू० २०४) इति णिच् । पूर्ववदुपजाति ॥ ७ ॥

एव पद्यमभिदधत् प्रबन्धस्य चम्पूत्वव्यपदेशार्थं गद्यमवतारयन् रामायणकथामुपक्षिपति–तत्र तावत् प्रथम विनेयैरिदमवधातव्यम्–शब्दार्थाभ्या दोषवर्जं कविकर्म रीयते अलक्रियते गुण्यत इत्यतो रसोऽपि नापेयात् । येन यो हि तात्पर्येणाभिधीयते लक्ष्यते व्यज्यते स प्रथमया विभक्त्या अभिधेय-लक्ष्य-व्यङ्ग्य-रूप तृतीयया च अभिधायक-लाक्षणिक व्यञ्जकरूप इत्यतिरोहितम् । सोऽय शब्दार्थप्रपञ्चो हर्षचरिते वाणी वाणयता वाणेन–

'श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् ।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बर ॥
नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्ट स्फुटो रस ।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम् ॥'

इति कवितारहस्याचिख्यापयिषया निरटङ्कि । एवप्रायाभिप्रायवान् ननु शब्दार्थौ काव्यमित्याचार्यरुद्रटमनुसरन्-'तददोषौ शब्दार्थौ'-(का० प्र० १।७) इत्यादिसूत्रेण राजानकमम्मटोऽपि यथाशासनमुपदिदेश । यच्च तैलङ्गान्वयमङ्गलान्वयमहालक्ष्मीदयालालितेन-

'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम् । रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता, लोकोत्तरत्व चानुभवसाक्षिको जातिविशेष ।' (रसग० प्रथमा)

इति समयान्तरेणागोचि तदप्यापाततो रमणीयम् । तथा परिष्कारेऽपि शब्दार्थयोरेकस्य काव्यत्वाभिधाने अन्यस्याप्राधान्यापत्ते । 'शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वय विद्वानपेक्षते' (शिशु० व० २।८६) इत्यादिना द्वयोरेव प्राधान्यावगतेश्चेति दिक् ।

साहित्यापराख्यमिदमलकारशास्त्रमपि ब्रह्मादिदेवोद्भूतमपि रुद्रोपज्ञत्वेनाख्यायते । तदिद नाट्य काव्यमिति द्विधा स्मर्यते । द्वयोरपि प्रपञ्चन नाट्यशास्त्राग्नेयपुराणादौ । तत्राद्यम्-'पाराशर्यशिलालिभ्या भिक्षुनटसूत्रयो ' (पा० ४।३।११०) इति पाणिनिनाप्यस्मारि । द्वितीय पुन -'अग्निमीले-' (ऋ० १।१।१।१) इत्यादि- 'वागर्थाविव सपृक्तौ-' (रघु० १।१।) इत्यन्तमनेकधा श्रोत्रियै पण्डितैश्च परीक्षितमेव । तत्र-'कविर्मनीषी परिभू स्वयभू -' (शु० य० स० ४।८) इत्यादि प्रकृती रूढैव । इह गुणदोषालकाररीतिरूप एक प्रवाह । विभावानुभावव्यभिचारिसयोगनिष्पत्तिको व्यञ्जनावलम्बिता रसो द्वितीय इति सर्वं यथायथ वस्तुस्थापनविधैवावधातव्य धीधनैर्नान्यथेत्यलम् । प्रकृते तु—

'गद्यपद्यमय काव्य चम्पूरित्यभिधीयते ।' इति,
'वृत्तबन्धोज्झित गद्य मुक्तक वृत्तगन्धि च ।
भवेदुत्कलिकाप्राय चूर्णक च चतुर्विधम् ।
आद्य समासरहित वृत्तभागयुत परम् ॥
अन्यद्दीर्घसमासाढ्य तुर्यं चाल्पसमासकम् ।'

इति च दर्पणोक्तानि षष्ठपरिच्छेदे गद्यलक्षणानि ।

अथ कथाप्रसङ्गे मुनिपुंगवो वाल्मीकिर्यदृच्छयाऽऽगत देवर्षिं परमेष्ठितनय नारद पप्रच्छ ॥८॥

अथेति । पुमाश्चासौ गौश्च, पुमान् गौरिवेति वा । 'गोरतद्धितलुकि' इति टच ।

'स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जरा ।
सिंहशार्दूलनागाद्या पुंसि श्रेष्ठार्थगोचरा ॥' इत्यमर ।

मुनिषु पुंगव ।

'दु खेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृह ।
वीतरागभयक्रोध स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥' (२।५६) इति गीता ।

दीव्यतीति देव । ऋषति आम्नाय पश्यति इति ऋषि । देवश्चासौ ऋषिश्च देवर्षि । तम् । परमेष्ठितनय हिरण्यगर्भाङ्गभुवम् । पप्रच्छ । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् । दुह्यादित्वाद् द्विकर्मा । तत्र द्वितीय प्रधान कर्म वक्ष्यमाणम् ॥८॥

साम्प्रतमस्मिन् लोके को नु श्रीमान् कीर्तेः प्रतापस्य चाश्रयः, सुकृतोज्ज्वलः प्रजावत्सलः, इति पृष्टः स प्रत्युवाच—॥९॥

साम्प्रतमिति । 'नु स्यात् प्रश्ने विकल्पार्थेऽप्यतीतानुनयार्थयो ' इति विश्व ॥९॥

वैवस्वतस्य मनोर्वंशे मुक्तामणिः, इक्ष्वाकुकुलकुवलये दिनमणिः, महापुरुषहीरः रघुवीरः, असतां विरामः सतामारामः श्रीरामः, इत्यभिधाय देवलोकं गते देवर्षौ सहर्षो भरद्वाजद्वितीयो महर्षिर्माध्याह्निकाय नियमाय जाह्नव्या नातिदूरं तमसातीरं समाससाद ॥१०॥

वैवस्वतेति । विवस्वत सूर्यस्यापत्य वैवस्वत तस्य मनो ।

'स्वायंभुवो मनुरभूत् प्रथमस्ततोऽमी,
स्वारोचिषोत्तमजतामसरैवताख्या ।
षष्ठस्तु चाक्षुष इति प्रथित पृथिव्या,
वैवस्वतस्तदनु सम्प्रति सप्तमोऽयम् ॥' इति ।

वंशोऽन्ववाये वेणौ च । मुक्ता मणिरिव मुक्तामणि । इक्ष्वाकूणा कुलमेव कुवलय कमलविशेष तत्र । दिनमणि प्रद्योतन । महापुरुषेषु हीर हीरकरत्नम् । अलकार इति यावत् । रघुषु वीर । विरामोऽवसानम् । आराम आनन्दस्थानम् । भरद्वाजस्तदाख्यो मुनिरुपचारार्थं द्वितीयो यस्य स । मध्याह्ने भवो माध्याह्निक स्नानसंध्यातर्पणरूपो नियम तदर्थम् । नातिदूरमिति नशब्देन 'सुप्सुपा' इति समास । नातिविप्रकृष्टमित्यर्थ । तमसा नदीविशेष । सा च कोसलेषु सरय्वा दक्षिणस्या दिशि क्वचिन्निर्जला क्वचित्सजलेति । 'वितमसा तमसासरयूतटा'

इति रघुवशम् । तस्या तीर तटम् । समाससाद प्राप ॥१०॥

तत्र पुण्येष्वरण्येषु विचरन्नग्रे क्रौञ्चस्त्रीपु सयोरेक पुमास मन्मथ-मोहित निषादशरविद्ध शोणितपरीताङ्ग भूतले विलुठन्त ददर्श ॥११॥

तत्रे ति । क्रौञ्चौ चक्रवाकौ, स्त्री च पुमाश्च इति स्त्रीपु सौ । 'अचतुरे'ति साधु । तयो । निषादस्य व्याधस्य शरेण विद्ध ताडितम् । शोणितेन क्षतजेन परीतानि आप्लुतानि अङ्गानि यस्य तम् । ददर्श आलुलोके ॥११॥

त तथा चेष्टमान पश्यतस्तस्य दयानिधेर्हृदयालीनः शोकानल-प्रवर्तितः साक्षात्करुणरस एव-

'मा निषाद ! प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वतीः समा ।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥'
इति श्लोकच्छलेन निःससार ॥१२॥

तमिति । तथा चेष्टमानम् । चेष्ट चेष्टायाम् । कर्तरि शानच् । क्रोशन्तमिति यावत् । दयते अनया इति दया । दय रक्षणे । षिद्भिदादिभ्योऽङ् । निदधाति अस्मिन् निधीयतेऽसाविति वा निधि । 'कर्मण्यधिकरणे च' इति कि । दयाया अन्त करणधर्मविशेषस्य निधि तस्य । हृदय मानसम् आलीन आरूढ । शोक एव अनल परपीडासहिष्णुतया सतापजनकत्वेन दहन तेन प्रवर्तित सचारित । साक्षात् मूर्त । करुणरस एव तदाख्यरसविशेष एव । इति श्लोकच्छलेन- 'मा निषाद-' इति काव्यससारे प्राथमिको य श्लोकस्तच्छलेन व्याजेन । नि ससार प्रादुरास । अत्र ध्वनिकार -

'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तदा चादिकवे पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ शोक श्लोकत्वमागत ॥'

इति विविधविशिष्टवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुण काव्यस्य स एवार्थ सारभूत सनिहितसहचरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनित शोक एव श्लोकतया परिणत इत्यर्थ ।' (ध्वन्या १ उद्यो) इति । 'मा निषाद-' इति श्लोकार्थस्तु-

रे निषाद ! व्याध ! निषीदति मन पाप वा अस्मिन्निति । षद्-घञ् । निष्करुणेत्यर्थ । त्व शाश्वती निरन्तरा । शश्वद् भव अण्, ततो ङीष् । ना । समा वत्सरान् । द्वितीयाबहुवचनम् । समाशब्दो नित्य बहुवचनान्त । तथाच- सवत्सरो वत्सरोऽब्दो हायनोऽस्त्री शरत् समा ' । इति । तत्प्रायोऽभिप्रायेण ।

पाणिनिराचार्यस्तु–'समा समा विजायते' (पा० ५-२-१२) इति सूत्रयन्नेक वचनान्ततामस्य प्रतिपेदे। प्रतिष्ठा स्थितिम्। आश्रय चेत्यर्थ । अत्यन्तसयोगे द्वितीया। 'प्रतिष्ठास्थितिमाहात्म्ये' इति वैजयन्ती । मा अगम मा प्राप्नुहि। आशासाया भूतवच्चेति लुङतिदेश । न कदाचित् त्व निरुद्वेगमेकत्रावास प्राप्स्यसीति तात्पर्यम्। अगम इत्यत्र छान्दसोऽडागम । काशिकाकारस्तु नाय माङ् किन्तु मा शब्द एवेत्यडागम समर्थितवान्। दुर्घटवृत्तिकारेण पुन 'त्वम गम' इत्यत्र तुशब्द पुनरर्थे । मा शब्दस्य लक्ष्मीवाचिनो नञा बहुव्रीहौ 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' (पा० १।२।४८) इति ह्रस्वे हे अम ! अलक्ष्मीकेति निषादविशेषण मत्वा अडागमप्रसक्तिर्वार्यत इति विशेष । रामायणमञ्जर्यामा चार्यक्षेमेन्द्रेण तु त्वमगमेत्यत्र 'त्वमालब्धा' इति पाठान्तरमुपकल्पयता सेय मनुपपत्ति समाहितेति सर्वं यथायथमनुसधेयम्। यत् यस्मात्। त्व क्रौञ्चमिथु नात्–क्रुञ्च एव क्रौञ्च । स्वार्थे अण् । तयोर्मिथुन दाम्पत्यरूप द्वन्द्वम्, तस्मात्। ल्यब्लोपे पञ्चमी। तमासाद्येत्यर्थ । एक पु रूपावयव काममोहित–कामेन रति क्रीडया मोहित रसावेशनिर्भरम्। अवधी हिंसितवानिति शापाभिप्रायकोऽर्थ ।

ब्रह्मण प्रसादाधिगत प्रथमोऽयमादिकवेर्वाङ्निष्यन्दो न केवल शापपर एव भवितुमर्हति यावन्मङ्गलार्थकोऽपीति मन्वाना पूर्वाचार्या भगवन्महिमा शसकत्वमप्यस्य वर्णयन्ति। तद्यथा—

निषीदत्यस्मिन्निति निषादो निवास, मा लक्ष्मी, तस्या निषादो मानिषाद श्रीनिवास, तत्सबुद्धि । त्व शाश्वती समा सर्वकाल, प्रतिष्ठा माहात्म्यम् अगम लभस्व। लकारव्यत्यय । यत् यस्मात् क्रौञ्चमिथुनाद् रावणमन्दोदरी रूपाद् राक्षसमिथुनात्। कामेन मोहित सीतापहर्तारम्। एक रावणम् अवधी । रावण हत्वा त्रैलोक्यसरक्षणपरस्त्व चिराय विजयस्वेति परमार्थ । वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्गमलङ्कार । अत्र च सप्तकाण्डोपनिबद्ध रामायणीय कथाशरीरमपि भङ्ग्यन्तरेणोपन्यस्त स्वयमुत्प्रेक्षितु सुशकमिति नेहायस्तम । वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्य विधया श्लेषमर्यादया च तत्र तत्र सभवन्तोऽप्यर्था प्रतिपद व्याख्यातुमशक्या प्रेक्षावद्भि स्वयमुन्नेया इत्यल व्याख्याननिर्बन्धेन ॥

शकुनिशोकावेशेन मया किमिद श्रवणपेय व्याहारीति सविस्मय भरद्वाज ब्रुवाणो यथाविधि विहिताभिषेकस्तेनैवापूरितकलशीकेन पृष्ठतोऽनुगम्यमानः स्वाश्रम प्रतिपेदे ॥१३॥

शकुनिशोकेति । शकुने चक्रवाकस्य शोकावेश शुचोऽवतर यस्य तेन । मया किमिद् श्लोकरूप श्रवणाभ्या पेय श्रोत्ररसायन व्याहारि अभाषि । वि आङ् पूर्वाद् हरते कर्मणि लुङ् । सविस्मय साश्चर्यं यथा तथा भरद्वाजमुनि ब्रुवाण ब्रुवन् । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि । शानच् । विधिमनतिक्रम्य यथाविधि । विहित अद्भुवतैर्मन्त्रै सपादित अभिषेक स्नान येन स । तेनैव भरद्वाज मुनिना आपूरिता कलशी कुम्भिका येन तेन । 'नद्यृतश्च' (पा० ५।४।१५३) इति कप् । पृष्ठत पृष्ठभागे । अनुगम्यमान अनुस्रियमाण । स्वाश्रमपद निजावास स्थानम् । प्रतिपेदे आजगाम । पद गतौ । अत्र वेदब्राह्मणोपनिषत्सु श्लोकाख्यस्य च्छन्दस प्रसिद्धत्वेऽपि तस्य रसप्राधान्यादाश्चर्यत्वोक्ति । अतएव महामुनेरादि कवित्वाख्यानमिति सर्वं समञ्जसम् ॥ १३ ॥

तत्र तमर्थं ध्यायतो महामुनेः पुरस्तादितरत्र श्लोकोपलम्भमसह-मान इव मन्त्रब्राह्मणलक्षणस्य ब्रह्मण उपबृंहणस्थानमाम्नायकर्त्रयिता ब्रह्मा प्रादुर्बभूव ॥१४॥

तत्रेति । तमर्थं श्लोकात्मकम् । ध्यायत पुन पुनर्विचारयत । महामुने वाल्मीके । पुरस्ताद् अग्रे । इतरत्र वेदेभ्योऽन्यत्र । श्लोकस्य पद्यस्य । उपलम्भम् उपलब्धिम् । असहमान अमर्षमाण । इवेत्युत्प्रेक्षायाम् । तथा चाचार्य दण्डीपठति—

'मन्ये शङ्के ध्रुव प्रायो नूनमित्येवमादिभि ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृश ॥' इति ।

ब्रह्मण वेदस्य । उपबृंहणस्थानम् आविर्भावभूमि । वेदा हि कारणब्रह्मणा कार्यब्रह्मणश्चतुराननस्य हृदये प्रकाशिता । तत ऋषिमुनिषु विस्तर प्राप्ता । तथाच श्रूयते—

'यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाश मुमुक्षुर्वै शरणमह प्रपद्ये ॥'
(श्वेताश्व उप ६।१८)

इति । स्मर्यतेऽपि—

'युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षय ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयभुवा ॥' इति ।
(तैत्तिरीयसहिताभाष्यभूमि)

आम्नायाना वेदाना कवयिता कवनकर्ता । आम्नायन्ते अभ्यस्यन्ते इति आम्नाया । म्ना अभ्यासे । कर्मणि घञ् । कवयतीति कवयिता । तृच । 'कविर्मनीषी परिभू स्वयभू —' इत्यौपनिषदी श्रुति । ब्रह्मा हिरण्यगर्भ । प्रादुर्बभूव आविर्भवतिस्म ॥१४॥

सादर पाद्यार्घ्यासनवन्दनैः सत्कृतश्चासौ दशनज्योत्स्नया पुण्यपीयूषं विकिरन्निव वल्मीकभुवमावभाषे–॥१५॥

सादरमिति । सादर गौरवपूर्वकम । पादायार्घाय च वारि पाद्यम् अर्घ्यम् । आसनम् विष्टरम् । वन्दनम् अभिवादन स्तवन च । तै । सत्कृत पूजितश्चासौ ब्रह्मा । दशनाना दन्ताना ज्योत्स्नया चन्द्रिकया । पुण्यमेव पीयूष सुधाम् । विकिरन् विक्षिपन् । इव । वल्मीकाद् भवतीति वल्मीकभू वल्मीकजन्मा । क्विप् । तम् । आबभाषे जगाद ॥१५॥

मुने ! करुणावतस्तव शोक एव सरससारस्वतप्रसरशसक श्लोकत्वमापन्न । तन्नारदनिर्दिष्ट रामचरित रामायण विधीयताम् । एवमास्ता चिराय श्रुतिवहनपरिश्रान्ता सुधास्नपनशिशिरा सरस्वती । इत्याभाष्य तिरोहिते ब्रह्मणि तदाज्ञया प्रतीच्या ज्ञानदृशा तपोनिधिरखिल रघुराजचरित करामलकीकृत्य स्वर्गमिव सुरसार्थसुन्दर रामायण विदधे ॥१६॥

मुने इति । मुने ! मननशील ! । करुणा विद्यतेऽस्यास्मिन्वेति करुणावान् । प्राशस्त्ये मतुप् । तस्य । क्रौञ्चवधहेतुक शोक एव । सरसो हृदयाकर्षक सरस्वत्या अय प्रसर उद्गम तस्य शसकम् आवेदकम् । श्लोकत्व पद्यभावम् । आपन्न प्राप्त । तदित्यव्यय पञ्चम्यर्थे । नारदेन निर्दिष्टमाख्यातम् । रामचरित रामायण व्याख्यातचरम् । विधीयता क्रियताम् । निर्मीयतामिति यावत् । विपूर्वको धाञ् करणार्थे, तत आशिषि कर्मणि लोट । एवम् इत्थमनुष्ठिते । आस्ता भवतात् । चिराय चिरस्य । श्रुतीनाम् अपौरुषेयीणा गिरा वहनेन धारणेन परिश्रान्ता विलष्टा । अर्थप्रधानरामचरितवर्णनेन सुधास्नपनशिशिरा पीयूषावगाहनशीतला सरस्वती भगवती वाग्देवी । इत्याभाष्य आदिश्य । तिरोहिते अन्तर्हिते । ब्रह्मणि आत्मभुवि । तस्य आज्ञया शासनेन । प्रत्यञ्चतीति

प्रतीची । ऋत्विगिति क्विन् । उगितश्चेति ङीप् । तया प्रतीच्या सर्वकषया । ज्ञानदृशा अवबोधदृष्ट्या । तपोनिधि –तपसा कायिक वाचिक मानसिकलक्षणाना निधिरधिष्ठानम् । अविकल समग्रम् । रघूणा राजा स्वामी तस्य चरित माख्यानम् । करामलकीकृत्य हस्तकलितधात्रीफलवत् प्रत्यक्षीकृत्य । स्वर्गमिव नाकवत् । सुराणा देवाना सार्थो वर्ग । उपमेयपक्षे-सुरसा वाच्य लक्ष्य तात्पर्य व्यङ्ग्य रूपा अर्था तै, सुन्दर मनोहरम् । विदधे रचितवान् ।

यदाहु –'स्याद्वाचको लाक्षणिक शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ।
वाच्यादयस्तदर्था स्युस्तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ॥' इति ।
(का प्र २ उल्ला)
'वाच्योऽर्थोभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मत ।
व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ता स्युस्तिस्त्र शब्दस्य शक्तय ॥' इति ।
(सा द २ परि)
'तात्पर्याख्या वृत्तिमाहु पदार्थान्वयबोधने ।
तात्पर्यार्थं तदर्थ च वाक्य तद्बोधक परे ॥'
(सा द २ परि) इतिच । ॥१६॥

तदनु मुनिसुनासीरोऽश्विनाविव परस्परोपमौ वेदपरिनिष्ठितौ कुशलवौ रामायणरसायन ग्राहयामास । तच्च तौ यथासगीत मुनिमण्डले गायन्तौ कदाचन रामभद्रनियोगेन तत्सनाथाया परिषदि यथाक्रम गातुमुपचक्रमाते ॥१७॥

तदन्विति । तदनु भविष्यतो रामायणस्य प्रणयनानन्तरम् । मुनि सुनासीर इन्द्र इव । अश्विन्या जातौ अश्विनौ आश्विनेयाविव । 'सधिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्' (पा० ४।३।१६) इत्यण् । 'नक्षत्रेभ्यो बहुलम्' (पा० ४।३।३७) इति लुकि–'लुक्तद्धितलुकि' (पा० १।२।४६) इति ङीपो लुक् । परस्परम् अन्योन्यम् उपमा सादृश्य ययोस्तौ । कुशलवौ तन्नामानो सीतादेव्या सूनू । रामायणमेवाश्चर्यजनकत्वाद् रसायनम् । ग्राहयामास अध्यापयामास । कुशलवाविति अण्यन्तावस्थाया कर्तारौ ण्यन्तावस्थाया च कर्मणी । 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ–' (पा० १।४।५२) इत्यनुशासनात् । तच्च यथावद्गृहीत रामायणम् । तौ यमलौ यथासगीत गान्धर्वशास्त्रानुसारम् । मुनीना मण्डले परिषदि । राम-

भद्रस्य दाशरथे नियोगेन आदेशेन। तत्सनाथाया तेन भूषितायाम्। परिषदि सभाया यथाक्रम यथासबन्धम्। गातुमुपचक्रमाते प्रारेभाते। तदिद वाल्मीकीयमार्षं तदुपजीव्य प्रकृत रघुवशवत् पौरुषमिति व्यक्तम् ॥१७॥

अथेदानी जनपद वर्णयति—

अस्ति स्वस्तिमान्, प्रत्यादेश स्वर्गोद्देशस्य, वीप्मा चैत्ररथप्रदेशस्य, दृष्टान्तसदन सकलासेचनकानाम्, कविकर्मातिक्रान्तविभूत्या भगवत्या सरय्वा सरसीभूतभूभाग कोशलो नाम जनपदः ॥१८॥

अस्तीति । स्वस्तिमान् कल्याणानुबन्धी । स्वर्गोद्देशस्य स्वर्लोकस्य प्रत्यादेशो निराकृति । चैत्ररथप्रदेशस्य कुबेरावासस्य वीप्सा द्विर्भाव । सकलासेचनकानाम्—'तदासेचनक तृप्तेर्नास्त्यन्तो यस्य दर्शनात्' इति लक्षितानां यावद्रमणीयाना दृष्टान्तसदनमादर्श । कविकर्माण वर्णनमतिक्रान्ता अतिशायिनी विभूतिरैश्वर्यं यस्यास्तथाभूतया । भगवत्या जलात्मकद्रवद्रव्यविलक्षणविग्रहालङ्कर्मीणया । एतच्चागमेषु गङ्गादिवर्णनेषु प्रसिद्धमेव । सरय्वा तदाख्यया महानद्या । सरसीभूत मसृणप्राय न तु मरुप्रदेशादिवन्नीरस भूभाग भूमिप्रदेशो यस्य तादृक् कोसलो नाम उत्तरकोशलाख्यो जनपदो नीवृत्। अस्तीति पूर्वेणानुषङ्ग ॥ १८ ॥

यत्र परागमहिता वाटिका ब्राह्मणाश्च, उच्चापा ह्रदाः क्षत्रियाश्च, बहुलाभाः सस्यसपदो वैश्याश्च, द्विजातिनता फलिन शूद्राश्च, अश्रान्तविक्रमाः कृषीवला विटपाश्च, सच्छाया मार्गा आश्रमाश्च, सदागोभृतः सीमानो गोपाश्च, सुरुचिराजीवनमिताः तडागा कूपाश्च, बहुधान्यजुष्टा ग्रामा मठाश्च, तीव्रतापहारिणः छायावृक्षाः सन्तश्च ॥१९॥

यत्रेति । यस्मिंश्च कोसलजनपदे । परा उत्कृष्टा अगा वृक्षा, परागा सुमनोरजासि च, तैर्महिता महनीया । मह पूजायाम् । वाटिका वृक्षवाटिका । परा वेदसमता आगमा शास्त्राणि तत्र हिता उचिता ब्राह्मणा अग्रजन्मानश्च। एवमुत्तरत्रापि एकमेव विशेषण विशेष्यद्वये सगच्छत इति द्रष्टव्यम्। उच्चा भूयस्य आप सलिलानि येषु ते उच्चापा । समासान्तोऽप् प्रत्यय । ह्रदा जलाशया । उद्गता चापा धनूषि येषा ते उच्चापा । क्षत्रियाश्च। बहुला आभा

कान्तयो यासा ता बहुलाभा । सस्यसपद सस्याना समृद्धय । बहव भूयासो लाभा कलान्तरादय येषा ते बहुलाभा । वैश्या विशश्च । द्विजै पक्षिभि अतिनता तद्विहारेणातिनमिता । फलिन शाखिन । द्वे जन्म-कर्मरूपे जाती जन्मनी येषा ते द्विजातयो ब्राह्मण-क्षत्रिय वैश्या । तेषु नता नम्रा नतूद्धता । शूद्रा पादजाश्च । एव चत्वारो वर्णा वर्णिता । यत्र विभागे-'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्-' इति चतुर्वेदप्रसिद्ध पुरुषसूक्तमन्त्र प्रमाणम् । प्रतिवादिवादनिरसनपूर्विका जातिमीमासा तु **'चातुर्वर्ण्यशिक्षाया वेदद्दष्टौ'** द्रष्टव्या ।

अश्रान्ता नवनवोन्मेषा विक्रमा पराक्रमा येषा ते अश्रान्तविक्रमा । कृषिरेषामस्तीति कृषीवला कृषका । 'रज कृष्यासुतिपरिषदो वलच्' (पा० ५।२।११२) इति वलच् । 'वले' (पा० ६।३।११८) इति दीर्घ । अश्रान्त निरन्तर वीना शकुनीना क्रमा क्रमणानि येषु ते अश्रान्तविक्रमा । विटपा पादपाभोगाश्च । सती विद्यमाना छाया अनातपो येषु ते सच्छाया । मार्गा पन्थान । सताम् आचारवता छाया कान्ति येषु ते सच्छाया । आश्रमा ब्रह्मचर्यादयश्च । सदा गा बिभ्रतीति सदागोभृत । डुभृञ् धारणपोषणयो । कर्तरि क्विप् । तुक् । सीमान सीमा । सदा आगासि गोकर्तृकसस्यचारणेनापराधान् बिभ्रतीति तथोक्ता । गोपा, गोपालाश्च । सुष्ठु रुचि शोभा येषा तथाभूतानि राजीवानि कमलानि, तै नमिता सुरुचिराजीवनमिता । तडागा सरांसि । सुरुचिरा सुन्दरा जीवनम् इता प्राप्ता । इण् गतौ । क्त । कूपाश्च । बहुभि धान्यै व्रीहिभि जुष्टा सश्रिता । जुषी प्रीतिसेवनयो । क्त । ग्रामा । बहुधा अनेकधा । अन्यै नानादिग्देशागतै जुष्टा सेविता । मठाश्च । 'मठश्छात्रादिनिलय' इत्यमर । तीव्र तापमातप हर्तुं शील येषा ते तीव्रतापहारिण छायाप्रधाना न्यग्रोधप्लक्षादयो वृक्षा । शाकपार्थिवादि । तीव्रता तैक्ष्ण्यम् अपहर्तुं शील स्वभावो येषा ते तीव्रतापहारिण । ताच्छील्ये णिनि । प्रियवदा इत्यर्थ । सन्त सज्जनाश्च । एवचात्र वाटिकादिविशेष्यपदाना द्वन्द्वदशकम् विंशति ॥१६॥

यत्र च विविक्तसरयूतटाभोगः सर्वदातुलसीमवतामाधारतयानेकधारञ्जयति ॥२०॥

यत्र चेति । विविक्त विजन पूतश्च सरय्वा तटाभोग तीरविस्तार । कर्तृपदम् । सर्वदा सदा हरिहरादिपूजार्थं तुलसीम् अवता रक्षताम् । आधार-

तया आवासत्वेन । सर्वं नानासस्य ददति वितरन्तीति सर्वदा । अतुला निरुपमा । यथायोग निबद्धा इति यावत् । सीमा चतुर्दिक्का मर्यादा सन्ति येषा येषु वेत्यतुलसीमवन्त । सर्वदाश्च ते अतुलसीमवन्तश्च । विशेषणयोरपि परस्पर विशेषणविशेष्यविवक्षया-'विशेषण विशेष्येण बहुलम्' (पा २।१।५७) इति समास । षष्ठ्यर्थबहुव्रीहिणा मतुबर्थाभिधानेऽपि तन्निबन्धन क्वचिन्नासमञ्जसम् । इह-'प्रत्ययस्थात्कात्—' (पा ७।३।४४) इति सूत्रे 'असुब्बत' इति भाष्यप्रयोगो नियामक । तथाभूताना केदाराणाम् । आधारतया आश्रयत्वेन । सर्वदा अतुला सीमा अखण्डक्रोश तद्वता कस्तूरीमृगाणाम् । आधारतया विहारस्थलत्वेन । सर्वं द्यन्ति खण्डयन्ति इति सर्वदा अतुला अप्रतिभटा सीमावन्त व्याधादय घातुका । तेषाम् । आधारतया मृगयास्पदत्वेन । अनेकधा बहुधा । रञ्जयति प्रीणयति । अनेका धारा यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात् तथा । जयनक्रियाविशेषणम् । जयति लोकोत्तर वर्तते । अभिभवतीति वा । अकर्मक सकर्मकश्च जयतिरित्यर्थ ॥२०॥

अमन्दसौगन्ध्यतरङ्गिताभि-
मरन्दसदोहकरम्बिताभि ।
पतत्प्रसूनोत्करबन्धुराभि-
र्यो भूष्यते कुञ्जपरम्पराभिः ॥२१॥

अमन्देति । य कोसलाख्यो जनपद । अमन्द गाढ यत् सौगन्ध्य सौरभ्य तेन तरङ्गिताभि नीरन्ध्रिताभि । 'तदस्य सजात तारकादिभ्य इतच्' (पा० ५।२।३६) इतीतच् । मरन्दाना मकरन्दाना सदोह सचय, तेन करम्बिताभि सपृक्ताभि । पतन्ति गलन्ति यानि प्रसूनानि कुसुमानि तेषाम् उत्कर सघात तेन बन्धुराभि मनोहराभि नतोन्नताभिर्वा । कुञ्जाना निकुञ्जाना लतादिपिहितोदराणाम् अवस्थानाना परम्पराभि सहतिभि । भूष्यते अलक्रियते । भूष-अलकारे । कर्मणि लट् । उपजातिवृत्तम् ॥२१॥

उदारकर्माप्यनुदारकर्मा-
वनीपरागोऽप्यवनीपरागः ।
यः पाटलाभोऽप्युपशल्यरूढ-
द्रुमावलीश्यामलितश्चकास्ति ॥२२॥

उदारेति । यश्च । उदाराणि प्रशस्तानि कर्माणि क्रियमाणानि यस्मिंस्तथाभूतोऽपि । न उदाराणि न प्रशस्ताकर्माणि चरितानि यस्मिंस्तथोक्त । अपिना विरोधो द्योत्यते । तत्परिहारस्तु–अनुदारम् अनुकुटुम्बिनि कर्म यस्मिन्नित्यनुदारकर्मा । अव्ययीभावगर्भो बहुव्रीहि । पाटला श्वेतरक्ता आभा शोभा यस्य तादृगपि उपशल्येषु ग्रामान्तेषु रूढा या द्रुमाणा शाखिनाम् आवल्य वीथ्य ताभि श्यामलित श्यामलिमान प्राप्त –इति विरोध । पाटल श्यामलो न भवतीत्यर्थ । विरोधनिरासस्तु–पाटलै व्रीहिभि आभाति शोभते इति पाटलाभ । 'आशुर्व्रीहि पाटल स्यात्–इत्यमर । वनीप अवनीपोऽर्थाद् वनीपभिन्नो न भवतीति विरोध । तत्परिहारस्तु–वनीपाना याचकाना राग प्रीतिर्यत्र । धनधान्य समृद्धत्वात् । अवनीपाना भूभुजा रागो यत्रेति । वनीम अरण्यानीम्, अवनी भुव च पान्तीति वनीपा अवनीपा । 'आतोऽनुपसर्गे क' (पा० ३।२।३) चकास्ति दीप्यते । चकास् दीप्तौ । उपजातिवृत्तम् ।।२२।।

किमियता । यत्र च पुनर्हिमकरकरनिकरकरम्बितकुमुददलावदातकीर्तिकर्पूरकरण्डीकृतरोदसीकास्तपस्यन्ति तपोनिधयः ॥२३॥

किमियतेति । इयता किम् । यत्र च पुन । हिमा शिशिरा करा यस्य स हिमकर चन्द्र, तस्य करा किरणा, तेषा निकर समुदाय, तेन करम्बितानि सवलितानि यानि कुमुदानि कैरवाणि, तेषा दलवत् पत्रवद् अवदाता विशुद्धा या कीर्ति सैव कर्पूर नासीर, तस्य करण्ड स्थापनपात्रम्, तत्कृता रोदसी द्यावापृथिव्योर्वपु यै ते तथोक्ता । 'अभूततद्भाव 'इति च्वि । समासान्त कप् । तपोनिधय ऋषयो मुनय सुकृतिनश्च । तपस्यन्ति तपासि चरन्ति । 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्या वर्तिचरो' (पा० ३।१।१५) इति क्यङ् । 'तपस परस्मैपद च' इति वार्तिकेन परस्मैपदम् ।। २३ ।।

येषा दर्शनमाशु मोहतिमिरध्वसाय हसायते
पादाम्भोजरजःकणश्च सुमनोहर्षाय वर्षायते ।
ते सिद्धीकृतसिद्धयोऽपि विषयास्वादस्पृहानिःस्पृहा
भूमान कमपि स्मरन्ति सरयूक्रोडे कुटीवासिनः ॥२४॥

येषामिति । येषा तपस्यता दर्शनम् आशु सद्य । द्रष्टॄणा मोहोऽज्ञान स एव आवरकत्वात् तिमिरम् अन्धकार , तस्य ध्वसो नाश , तदर्थ हस सहस्रकिरण

इव आचरतीति हसायते। उपमानपदाद् हसात् कर्तुं आचारेऽर्थे क्यङ्। येषां च पादौ अम्भोजे इव, तयो रज कण धूलिकणिका च। सुमनसां सुप्रिया हर्ष उल्लास तदर्थम्। वर्षायते इति वर्षाशब्दात् पूर्ववत् क्यङ्। वर्षा अपि सुमनसां पुष्पाणां हर्षाय प्रभवन्तीति श्लिष्यते। ते। सिद्धीकृता साधनानुषङ्गेण सिद्ध पदवीं गता। सिद्धय अणिमादय येषां ते तथाभूता अपि। नियमापेक्षया विषया शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणगोचरा, तेषाम् आस्वाद स्पृहा ग्रहणवासना, तासु निःस्पृहा निष्कान्तगार्ध्या। अतएव सरयूक्रोडे सारवप्रान्तरे, कुटीषु पर्णशालासु वसन्ति तच्छीला महात्मान। कमपि अनिर्वचनीयम्। भूमानं पारमेश्वरं मह। स्मरन्ति चिन्तयन्ति। स्पष्टोऽयमर्थो वेदान्तदर्शने–'भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्' (वे० द० १।३।८) इति सूत्रवृत्ति भाष्ययो। शार्दूलविक्रीडित वृत्तम्॥२४॥

वातान्दोलनकेलिलोलसरयूकल्लोलमालोज्ज्वले
सर्वाङ्गीणफलप्रसूनविभवव्याघूर्णमानद्रुमे।
क्वापि ब्रध्नसुतान्तरालविकसन्नीलाम्बुजन्मोपरि
क्रीडत्षट्पदकान्ति किंचन महो ध्यायन्ति बद्धासनाः॥२५॥

वातेति। बद्ध स्वस्तिकपद्मादि स्थिरसुखम् आसन ये तथोक्ता महापुरुषा। वातस्य समीरणस्य या आन्दोलनकेलि व्यापारलीला, तया लोला चञ्चला ये सरय्वा कल्लोला उल्लोला, तेषां मालाभि परम्पराभि उज्ज्वले प्रकाशमाने। सर्वाङ्गाणि व्याप्नोतीति सर्वाङ्गीण सर्वावयवसम्पूर्ण। 'तत्सर्वादे पथ्यङ्गकर्म पत्रपात्रं व्याप्नोति' (पा० ५।२।७) इति ख। सर्वाङ्गीणो य फलप्रसूनविभव प्रसवसम्पत्, तेन व्याघूर्णमाना व्याजृम्भमाणा द्रुमा यस्मिंस्तादृशि। क्वापि प्रदेशे। ब्रध्नस्य सूर्यस्य सुता यमुना, तस्या अन्तराले मध्ये, विकसन्ति विकस्वराणि, नीलाम्बुजन्मानि इन्दीवराणि, तेषाम् उपरि उपरिष्टात्। क्रीडतां षट्पदानां कान्तिरिव कान्तिर्यस्य तत्। 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य' इति वार्तिकेनोत्तर पदलोपोऽत्र द्रष्टव्य। अथवा–क्रीडन्त खेलन्तो ये षट्पदास्तद्वत् कान्तिर्यस्य तत्। किंचन किमपि। रामात्मकं कृष्णात्मकं वा मह। तच्च लीलाविग्रहोपलक्षकमपि। देवानां विग्रहवत्त्वे—'विरोध कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्' (वे० द० १।३।२७) इति वेदान्तसूत्रमपि निरूपितम्। ध्यायन्ति चिन्तयन्ति। पद्याभ्यामाभ्यां योगाभ्यासयोग्या भूमि सूचिता। तथा च न्यायसूत्रम्–'अरण्यगुहापुलिनादिषु

योगाभ्यासोपदेशः' (४।२।४२) इति। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥२५॥

इदानीमयोध्यापुरीं वर्णयति–

तत्र च यथाविधि विधीयमानवर्णाश्रमधर्मक्रियाकौशलेषु कोशलेषु मानवमरुत्वता मनुना निर्मिता द्वादशयोजनायामा त्रियोजनविस्तारा सुरासुरैरयोध्या अयोध्या नाम पुरी विधिकर्मावधिः सर्वसंपन्निधिः ॥२६॥

तत्र चेति। विधीयन्त इति विधयः श्रौत-स्मार्त-पौराणलक्षणाः। उक्तं च–

'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचकाः।' इति।

विधीननतिक्रम्य वर्तत इति यथाविधि। यथाविधि विधीयमाना अनुष्ठीयमानाः। वर्णानां ब्राह्मणादीनां तदन्तरप्रसूतानां च आश्रमाणां ब्रह्मचर्यादीनां तदवस्थाविशेषाणां च या धर्मक्रियाः धर्मकर्माणि, तासां कौशलं दाक्ष्यं येषु तथाभूतेषु कोशलेषु कोशलाख्येषु जनपदेषु। देशवाचकः शब्दो बहुवचनान्तः प्रयुज्यत इति तु प्रायोवादः। मानवमरुत्वता मानवेन्द्रेण मनुना वैवस्वतेन निर्मिता विहिता। कारयन्नपि कर्तैव भवतीति भावः। द्वादशयोजनेत्यायामविस्तारनिरूपणे वाल्मीकीयं रामायणं मानम्। इदानीं तु सरय्वा दक्षिणतीरमुपश्लिष्टा सङ्कुचितैव। अस्या दक्षिणे संनिहितप्रायैव तमसाख्या सरिन्निर्जलेति। सुराश्च असुराश्च सुरासुराः, तैः। 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' (पा० २।४।९) इति सूत्रस्य तु नायं विषयः। देवासुरविरोधस्य नैमित्तिकत्वात्। अयोध्या योद्धुमनर्हा। अयोध्या नाम अयोध्येति विख्याता। पुरी नगरी। विधेर्ब्रह्मणः कर्मावधिः कार्यसीमा। सर्वासां संपदां निधिः धानी। अस्तीत्यप्रयुज्यमानोऽपि वाक्यबलाल्लभ्यते। तिङ्सुबन्तचयो वाक्यमित्यभिधानात् ॥२६॥

याक्रान्तापि सुरोत्सवैः प्रतिगृहं पावित्र्यसंदानिता
दुर्वर्णाकलितापि यानवरतं चञ्चत्सुवर्णाञ्चिता।
या क्षोणीवलयाश्रितापि विलसन्नानाप्सरोभूषिता
रज्यत्स्वच्छसुधासितापि परितो या रक्तवर्णोर्जिता ॥२७॥

याक्रान्तेति। या अयोध्या। गृहान् गृहान् प्रति इति प्रतिगृहम्। सुराणां मद्यानाम् उत्सवैः गोष्ठीभिः आक्रान्ता परिगता अपि। पवित्रस्य भावः पावित्र्यं शुचित्वं तेन संदानिता स्यूता। पावित्र्यं च स्वरूपतः हेतुतश्चेति द्विविधम्।

यथा स्वरूपेण शुद्धमपि चाण्डालान्त हेतुतोऽशुद्धम् । इयं तु उभयत शुद्धा । सुरासंसर्गेण आपततो दोषस्य परिहारस्तु–सुराणां देवानामिति व्याख्यानेन । या, अनवरत नित्यम् । दुर्वर्णैः दुष्टवर्णैः आकलिता सश्लिष्टापि । चञ्चद्भि दीप्तिमद्भि सुवर्णैः शोभनैः वर्णैः अञ्चिता पूजिता । अत्र दुर्वर्णा सुवर्णा न भवतीति विरोधोद्भावने–दुर्वर्णानि रजतानि, सुवर्णानि स्वर्णानि–इति व्याख्यया तत्परिहार । या, क्षोण्या वलयं मण्डलम् आश्रिता सगतापि । विलसन्तीभि नाना विविधाभि , अप्सरोभि स्वर्गवाराङ्गनाभि । भूषिता अलकृता । क्षोणिपृष्ठ-गता अप्सरसो न भवन्ति, तासा भूतलस्पर्शाभावादिति विरोधोपस्थितौ–विलसद्भि प्रकाशमानैः, विभि हसादिपक्षिभि लसद्भि शोभनैरिति वा । नाना प्सरोभि अनेकैः अप्प्रधानैः सरोभि भूषिता–इति तन्निरास । या, अच्छा निर्मला सुधा पीयूषम्, सैव सिता शुभ्रापि । रक्तो लोहितो यो वर्णो द्रव्यनिष्ठगुण तेन ऊर्जिता प्राणिता । ऊर्जबलप्राणधारणे । क्त । शुक्लवर्णा रक्तवर्णा न भवतीति विरोधे अच्छया विमलया सुधया लेपनद्रव्येण–कलीति भाषाप्रसिद्धेन- सिता धवला तथा रक्ता अनुरक्ता वर्णा ब्राह्मणादय , तैः ऊर्जिता उज्जीविता–इत्येव विरोधनिराकरणमनुसधेयम् । सर्वत्र विरोधद्योतकोऽपि । कविसम्प्रदायाद् 'या' इति सर्वनाम्न आवृत्तिश्च । रज्यति प्रीयते । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥२७॥

लीलालोलमरालबाललुलितव्याकोशकोशाम्बुज–
श्च्योतत्स्फारपरागरागललितं व्यालोलमम्भोभरम् ।
बिभ्राणा तरुणारुणारुणमिव प्रावारमुत्कण्ठिता
या कल्लोलभुजच्छलेन सरयूरालीमिवालिङ्गति ॥२८॥

लीलेति । लीलया खेलया लोला चञ्चला मरालाना हसाना बाला शावका , तै लुलितानि आलोडितानि, तथा- व्याकोशा विकचा कोशा पुटानि येषा तानि, अम्बुजानि । एषा विशेषणसमास । तथाभूतेभ्य अम्बुजेभ्य श्च्योतन्त गलन्त स्फारा भूयास परागा किंजल्का तेषा रागेण वर्णेन ललित सुन्दरम् । व्यालोल तरलम् अम्भसा भर पूरम् । तरुण नवीन अरुण रविमण्ड-लम् , तद्वद् अरुण लोहित प्रावारम् उत्तरासङ्गम् इव बिभ्राणा बिभ्रती । उत्कण्ठिता कूलगता उत्का च । सरयू सरयूसरित् , वयस्या च । कल्लोला ऊर्मय एव भुजौ बाहू , तच्छलेन व्याजेन । आली सखीमिव । याम् अयोध्याम् । आलिङ्गति आश्लिष्यति । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥२८॥

सुधांशुशोभाजयजागरूकै-
रभ्युन्नतैः स्फाटिकसौधशृङ्गैः ।
हिमाद्रितुङ्गत्वजिगीषयेव
या वर्धते विष्णुपद श्रयन्ती ॥२६॥

सुधांश्विति । या पुरी । सुधांशो पीयूषरश्मे शोभा छवि, तस्या जये पराभवे, जागरूकै व्याप्रियमाणै । 'जागुरूक' (पा० ३।२।१६५) इति ऊक प्रत्यय । अभ्युन्नतै अभ्रकषैरित्यर्थ । स्फाटिकै स्फटिकमणिनिर्मितै । सुधालेपोऽस्त्येषा सौधाना हर्म्याणाम् । 'ज्योत्स्नादिभ्य उपसख्यानम्' इति अण् । शृङ्गै शिखरै । हिमाद्रे हिमालयस्य, तुङ्गत्वम् उच्छ्राय , तस्य जिगीषया जेतुम् इच्छयेव । विष्णुपदम् आकाशम् । मेरुगत विष्णुपुर च । विष्णुपुराणवर्णनात् । श्रयन्ती सेवमाना । वर्धते स्फायते । वृध वृद्धौ । ब्रह्म विष्णु रुद्रपुराणि मेरावेव वर्णितानि । मेरुस्तु देवभूमितया पुराणेतिहासादौ सुप्रसिद्ध एव । इयमयोध्या तु भुवर्लोकगता । भूलोकस्तु लङ्कादक्षिणभागे । एव भूर्भुव स्व सज्ञकास्त्रयो लोका भूविशेषगता एव मन्तव्या । महरादिचत्वारो लोकास्तु भूमेरोरुपरिष्टात् । एव विष्णुपुराणतो वेदितव्या । यत्तु साकेतगोलोकादिव्यवस्थाऽन्यथान्यथा कल्प्यते सा तु कल्पनैवेति सक्षेप ॥२६॥

कलाकलापाकलिताकृतीनि
स्थले जले व्योमनि सद्गतीनि ।
यथेष्टवेगानि गृहोपमानि
यानानि यस्या सतत प्लवन्ते ॥३०॥

कलेति । यस्या पुरि । कला वेदनिर्गतानि अर्थवेदरूढानि विश्वकर्मादि-शिल्पशास्त्राणि, तासा कलापा उच्चावचविभागा, तै आकलिता सुनिरूप्य आपादिता , आकृतय अङ्गोपाङ्गघटनावस्थितय येषा तानि । स्थले भूम्यादौ । जले समुद्रादौ । व्योमनि अन्तरिक्षादौ । इहादिशब्दलभ्य पर्वत-सरिद् द्योलोक-लक्षणोऽर्थ समुन्नेय । तत्र कौवेर पुष्पक, राघव स्यन्दन लिङ्गमिति सक्षेप । सत्य अस्खलिता गतय गमनानि येषा तथोक्तानि । यथेष्ट यथाभिलषित वेगो जवो येषा तानि । गृहा उच्चावचभूमिका उपमा सादृश्य येषा तानि । यान्ति

एभि एषु वा इति यानानि पञ्चभूतवैभवारब्धकलायन्त्रादीनि। 'करणाधिकरण योश्च' (पा० ३।३।११७) इति ल्युट्। सतत नक्तन्दिवम्। प्लवन्ते। प्लुङ् गतौ। इमे उपजाती ॥३०॥

या भाति तर्कविद्येव प्रकाशितनवक्षणा ।
पर गुणिनि वर्वर्ति यत्र शक्तिर्विलक्षणा ॥३१॥

येति। या पुरी। तर्कविद्या तर्कशास्त्रमिव प्रकाशितनवक्षणा आभाति। प्रकाशिता आयोजिता नवा नूतना क्षणा उत्सवा यस्या सा। '-अथ क्षण उद्धर्षो मह उद्धव उत्सव ।' इत्यमर। तर्कविद्यापक्षे तु-नव नवसङ्ख्याका क्षणा पाकक्षणा यस्या सा। स्पष्टोऽयमर्थ पीलुपिठरपाकवादावसरे-

'तत्रापि परमाणौ स्यात् पाको वैशेषिके नये ।
नैयायिकाना तु नये द्व्यणुकादावपीष्यते ॥'

इत्यादौ। पर यत्र। गुणिनि पौरलोके। विलक्षणा लोकोत्तरा। शक्ति सामर्थ्यम्। वर्वर्ति वरीवृतीति-इति व्यतिरेकोद्भावनम्। तर्कशास्त्रे तु-शक्तिग्रह व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्यादित्यादि विचारावसरे-'नीलादिपदाना नीलरूपादौ नीलविशिष्टे च शक्ति कोशेन व्युत्पाद्यते। तथापि लाघवान्नीलादावेव शक्ति, नीलादिरूपविशिष्टे तु लक्षणैवाङ्गीक्रियते।' इति। व्याकरणे तु-'गुणवचनेभ्यो मतुबो लुगिष्ट' इति भिन्नैव रीतिराश्रीयते। एव गुणे शक्ति गुणिनि लक्षणा आस्ताम्। अस्यामयोध्याया तु गुणिनि गुणशालिन्यपि विलक्षणा शक्ति प्रतीयत इति वाचोयुक्तिमात्रम् ॥३१॥

भूमयो बहिरन्तश्च कान्ताहावपरिष्कृता ।
अश्रान्त कम्रगोत्राणा सौहित्य यत्र कुर्वते ॥३२॥

भूमय इति। यत्र यस्या पुरि। कान्तै मनोहारिभि आहावै निपानै। 'आहावस्तु निपान स्यादुपकूपजलाशये।' इत्यमर। परिष्कृता घटिता। बहिर्भूमय। तथा-कान्ताना कामिनीना हावै शृङ्गारभावक्रियाभि, परिष्कृता भूषिता। अन्तर्भूमयश्च। यथाक्रम कम्रगोत्राणा। गवा समूहा गोत्रा। 'इनित्रकट्यचश्च' (पा० ४।२।५१) इति सामूहिक त्र। स्त्रीत्व लोकात्। टाप्। कम्रा शोभनाश्च ता गोत्राश्च, तासाम्। कम्राणा कामुकाना गोत्राणि कुलानि तेषाम्। 'कम्र कामयिता-' इत्यमर। अश्रान्तम् अनारतम्। सुहितस्य भाव सौहित्य तर्पणम्। 'सौहित्य तर्पण तृप्ति' इत्यमर। कुर्वते कुर्वन्ति ॥३२॥

यस्यां च मर्वदासारवन्तोऽन्तर्वर्षागृहा बही रक्षापुरुषाः, विश्वभरा-परागभाजोऽन्तर्बालका बहिर्वाहीकाः, लताङ्गीकृतहार्दाः कुसुमेषुचपल-चेतसोऽन्तर्विलासिनो बहिर्मिलिन्दाः, वयोविलासहारिण्यो विटपालि-परायणा अन्तर्वाणिन्यो बहिरुपवनवल्लर्यः, मधुपरागवन्ति परागवन्ति रागवन्ति चान्तर्वारभवनाजिराणि बहिः क्रीडाकुञ्जलतान्तराणि ॥३३॥

यस्या चेति । यस्या च । अन्त अभ्यन्तरे-वर्षाणा कलायन्त्रप्रवर्तिताना गृहा आलया । सर्वदा निरन्तरम्, न तु विश्रम्य विश्रम्य, आसारवन्त धारा सपातशालिन । 'धारासपात आसार' इत्यमर । बहि प्राकाराद् बाह्यप्रदेशेषु । रक्षापुरुषा पालका । सर्वदा सारवन्त बलवन्त इत्यर्थ । 'सारो बले स्थिरांशे च' इत्यमर । अन्त —बालका अर्भका । विश्वभराया परागान् पासून् भजन्ति इति विश्वभरापरागभाज । धूलिधूसरविग्रहा इत्यर्थ । बहि बाहीका प्राकृता लौकायतिका । बहिषष्टिलोपो ईकक् च । विश्वभरे भगवति अपरागभाज । अन्त विलसन्ति तच्छीला -विलासिन कामुका । लतावद् अङ्गानि यासा ता लताङ्ग्य । सुकुमारगात्र्य इत्यर्थ । लताङ्गीषु, कृत विहित, हार्द प्रेम, यैस्तै तथोक्ता । कुसुमेषुणा पुष्पायुधेन, चपल तरल, चेत चित्त, येषा ते, तथाभूताश्च । बहि —मिलिन्दा षट्पदा । लतासु वल्लरीषु, अङ्गीकृत हार्द यैस्ते । कुसुमेषु पुष्पेषु । चपलचेतस दोलायमानमानसाश्च । अन्त —वाणिन्यो मत्त ङ्गना । वयस यौवनस्य, विलासेन कौतुकेन, हारिण्य हृदयग्राहिण्य । विटाना भुजङ्गाना, पालौ पङ्क्तौ, परायणा तत्पराश्च । बहि —उपवनवल्लर्य आरामवीरुध । वयसा पक्षिणा, विलासेन क्रीडया, हारिण्य हृदयगमा । विटपाना शाखिविस्तारपल्लवानाम्, आलिषु, परायणा आसक्ताश्च । मधुना, परा उत्कृष्टा, अगा वृक्षा, मधुपाना रागाश्च । तद्वन्ति । परागा -किजल्का क्रीडापर्वतकाश्च । तद्वन्ति । रागा -लोहितादय गीतकानि च । तद्वन्ति । सर्वत्र प्राशस्त्ये मतुप् । नपुसके बहुवचनम् । अन्तर्बहिश्च समानार्थकम् । वारस्य वेशस्य, भवनाजिराणि गृहाङ्गणानि । क्रीडार्थं यानि कुञ्जानि निकुञ्जानि, तेषा लतान्तराणि व्रतत्यन्तरालानि ॥३३॥

कथमसौ नाकान्नातिरिच्यते—यतोऽमुष्यामुपप्राकार जिष्णुकोटय, प्रतिपण्यवीथिक यज्ञोच्चयाः, अनुधात्रि नन्दनवर्गः, गृहे गृहे रम्भाः, शासने शासने गुरवः, पदे पदे सुधर्माः ॥३४॥

कथमिति। कथमसौ कथंकारमियम्। नाकात् स्वर्गात्। नातिरिच्यते न विशिष्यते—यत -अमुष्या नगर्याम्। प्राकारस्य वरणस्य समीपे जिष्णूना योद्धॄणाम्। जयन्ति अभिभवन्ति वा जिष्णव। 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नु'(पा०३।२।१३९) इति ग्स्नु। प्रतिपण्यवीथिक हट्टविपणिषु। वज्राणा हीरकाणाम्। उच्चया पूगा। अनुमातृक नन्दनाना वर्ग। गृहे गृहे प्रतिगृहम्। रम्भा कदल्य। शासने शासने गुरव उपदेष्टार। पदे पदे प्रतिस्थानम्। सुधर्मा शोभनधर्मा। स्वर्गे तु—एको जिष्णु, एक वज्रम्, एक नन्दनम्, एका रम्भा अप्सरा, एको गुरु, एका सुधर्मा इति पुराणेतिहासतो व्यक्तम्॥३४॥

वापीषु स्फुटितारविन्दनिचया गञ्जासु पानप्रिया
क्रीडाशैलगुहासु मीननयना वेशेषु वेशाङ्गनाः।
उद्देशेषु सरोवरा उपवनीकुञ्जेषु शृङ्गारिणो
रागं पल्लवयन्ति यत्र नितरां कान्तालिविभ्राजिताः॥३५॥

वापीष्विति। यत्र यस्मिन्नयोध्यापुरे। वापीषु दीर्घिकासु। कान्तै गुञ्जद्भि, अलिभि भ्रमरै, विभि हंसादिपक्षिभिश्च, भ्राजिता दीपिता। भ्राजृ दीप्तौ। स्फुटिताना विकसितानाम् अरविन्दाना निचया व्राता। गञ्जासु मदिरागृहेषु। 'गञ्जा तु मदिरागृहम्' इत्यमर। कान्तै अभिमतास्वादै, अलिभि मद्यै, विभ्राजिता विद्योतिता। पानप्रिया पानरसिका। क्रीडाशैलाना केलिपर्वतकानाम्। गुहासु दरीषु। कान्ताभि स्निग्धाभि, आलिभि वयस्याभि, विभ्राजिता वेष्टिता। मीननयना मीनाक्ष्य। वेशेषु वेशशालासु। कान्ताना दयितानाम्, आल्या पङ्क्त्या, विभ्राजिता सभाजिता। वेशाङ्गना वारवध्व्य। उद्देशेषु आरामादिक्रीडाप्रदेशेषु। कान्तै रमणीयै, आलिभि सेतुभि, विभ्राजिता यथासंनिवेश घटिता। सरोवरा क्रीडातडागप्रवरा। उपवनीकुञ्जेषु उद्यानलतागृहेषु। कान्ताना रामाणाम्, आल्या श्रेण्या, विभ्राजिता परीता। शृङ्गारिण विलासिन। नितराम् अत्यर्थम्। रागम् अनुरागम्। पल्लवयन्ति विस्तारयन्ति। पल्लवशब्दात्—'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्। एक हि विशेषण षट्सु विशेष्येषूपपद्यते॥ शार्दूलविक्रीडित वृत्तम्॥३५॥

यत्र प्रासादशालामणिमयवलभीसंगताः प्रौढकान्ता
साकूतं नूतनेन्दीवरमधुररुचीन् गच्छतो वारिवाहान्।

आकृष्यान्योन्यमारात् स्वचिकुरनिकुरान् स्वाङ्गलावण्यलक्ष्मी
साकं तैश्चञ्चलाभिश्चिरममरवधूसंनिभा भावयन्ति ॥३६॥

यत्रेति। यत्र यस्या पुरि। प्रासादाना सौधविशेषाणा शालासु गृहविशेषेषु, या मणिमय्य रत्नप्रचुरा, वलभ्य शिरोगृहा, तत्र सगता आरूढा अमरवधूसनिभा देवाङ्गनाभि सदृशा। प्रौढकान्ता यौवनोद्धता युवतय। अन्योन्य परस्परम्। साकूत सोत्प्रास यथा तथा। नूतनेन्दीवरवन् मधुरा मसृणा रुचि द्युति, येषा तथाभूतान्। आरात् समीपे। गच्छत नभसि सचरत। वारिवाहान् जलदान्। हस्तेनाकृष्य। तै वारिवाहै साक सार्धम्। स्वस्य आत्मन, चिकुरनिकुरान् केशपाशान्। स्वस्य, अङ्गानाम् अवयवानाम्। लावण्यलक्ष्मी लावण्यस्य सुषमाश्च।

'मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥' इति।

तथा-तद्गताभि चञ्चलाभि क्षणप्रभाभिश्च। चिर चिराय। भावयन्ति मिन्वन्ति ॥३६॥

उद्यन्नीलाश्मबद्धक्षितितलविलसद्रश्मिजालप्ररोहान्
प्रत्यग्रोद्भिन्नदूर्वाङ्कुरसहजरुचो वाञ्छता साभिलाषम्।
शङ्के भास्वद्धयाना प्लवनघनजवादापतंस्तार्क्ष्यबन्धु
र्यत्रापानूरुभार कठिनमणिशिलाघातभग्नोरुसंधिः ॥३७॥

उद्यदिति। यत्र यस्या पुर्याम्। तार्क्ष्य गरुड। 'गरुत्मान् गरुडस्तार्क्ष्य-' इत्यमर। तस्य बन्धुरग्रज काश्यपि। 'सूरसूतोऽरुणोऽनूरु काश्यपिर्गरुडाग्रज।' इत्यमर। प्रत्यग्रोद्भिन्ना अभिनवोद्गता, ये दूर्वाख्यतृणविशेषस्य अकुरा अभिनवोद्भेदा। 'काण्डात्काण्डात्प्ररोहन्ती-' इति श्रुतिप्रसिद्धा। तत्सहजरुच तत्सोदर्यद्युतीन्। उद्यद्भि स्फुरद्भि, नीलाश्मभि मरकतमणिभि, बद्ध घटितम्, यत् क्षितितल भूपृष्ठम्, तत्र विलसन्त उद्गच्छन्त, ये रश्मिजालाना मरीचिपुञ्जानाम्, प्ररोहा कन्दला, तान्। साभिलाष सतर्षम्, यथा तथा। वाञ्छताम् इच्छताम्। भास्वत सूर्यस्य, हयाना रथाश्वानाम्। प्लवनघनजवात्-प्लवने प्रान्तरातिक्रमणे, य घन भूयान् जव वेग, तद्वशात् तत्पराभवात्। आपतन् अनाधारम् भ्रश्यन्। कठिना कठोरा, या मणिशिला रत्नग्रावाण,

तत्र य आघात निपात, तेन भग्न खण्डित, ऊर्वो सक्थ्नो, सधि सधान यस्य तथाभूत सन्। अविद्यमानौ ऊरू यस्य, तस्य भावम्। अनूरुत्वमिति भाव। आप आससाद। इति शङ्के मन्ये।

'मन्ये शङ्के ध्रुव प्रायो नूनमित्येवमादिभि।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृश ॥'

इत्युक्त दण्डिन काव्यादर्शे ॥३७॥

फुल्लद्वल्लीमतल्लीवलयितविविधानोकहाहूयमान-
प्रौढध्वान्ताढ्यकुञ्जोदरगतकमनद्वन्द्वनर्मैकसाक्षि।
यस्यामुद्यानवृन्द मृदुपवनपतत्पुष्पगन्धानुगच्छ-
न्माद्यल्लोलम्बनादद्विगुणितमदन भुञ्जते भाग्यभाज ॥३८॥

फुल्लदिति। यस्या पुरि। भाग्यभाज सौभाग्यशालिन। फुल्लन्त्य स्फुटा, या वल्लीमतल्ल्य प्रशस्तवल्लर्य। 'प्रशसावचनैश्च' (पा० २।१।६६) इति समास। ताभि वलयिता वेष्टिता, विशिष्टा विधा प्रकारो येषा तथाभूता, ये अनोकहा शाखिन, तै आहूयमान सचीयमान, य प्रौढध्वान्त गाढान्धकार, तेन आढ्य सपन्न यत् कुञ्जोदर लतागृहान्तरम्, तद्गत यत् कमनद्वन्द्व कामुकमिथुनम्, तस्य नर्मण एकसाक्षि असाधारणद्रष्टृ। मृदुना कोमलेन, पवनेन वायुना, पतन्ति पतनशीलानि, यानि पुष्पाणि प्रसूनानि, तेषा गन्ध सौरभ्यम्, अनुगच्छन्त अनुसरन्त, माद्यन्त हर्षमाणा, लोलम्बा भ्रमरा, तेषा नादै निस्वनै, द्विगुणित द्वैगुण्य नीत, मदन मन्मथ, यस्मिन् तथोक्तम्। उद्यानवृन्दम् आक्रीडनिकुरम्बम्। भुञ्जते सेवन्ते॥ एतानि स्रग्धरा वृत्तानि ॥३८॥

यस्याश्चोत्तरभागे निर्मलतरतरङ्गरिङ्गत्प्रतिबिम्बैर्वैकर्तनातपतापतप्ततयावगाहनाय कृतप्रयासैरिव, माध्यदिननियमाय तटोपविष्टाना षट्कर्मणामातपापनोदार्थमुद्यद्व्रततिवितानोपगूढविटपाभोगकैतवेन धृतातपत्रैरिव, उदयास्ताचलमध्यभ्रमणशीलस्य भगवतः सप्तसप्तेः प्रान्तरसचरातिक्रमणक्लान्तरथ्यपथ्यपाथेयार्थमनूरुशिष्टिसपादितशष्पकूटशृङ्गैरिव, पादपकदम्बकैरलक्रियमाणकूला, मदमत्तराजहसकुलकेलिपरिश्रान्तपाठीनपुच्छपरिवर्तनावधूतविकचपङ्केरुहपटलनिगलन्मकरन्दबिन्दुसदोहवासिततोया, अवगाहनावतारितमत्तमातङ्गघटाकपोलपालीश्च्योतन्मदधाराकषा-

यितकल्लोला, विविक्ततटनिहितस्फाटिकपट्टनिविष्टमहर्षिहर्षसमुदीर्यमाणो-पनिषन्निनादमधुरा, स्नानागतवालखिल्यजनगेगीयमानसूक्तस्तवस्तोमा, अभिषेकावतीर्णपौररमणीकुचकुम्भकुङ्कुमपुञ्जपिञ्जरीक्रियमाणसलिलसताना, दिव्यदोहददानायातनववधूवरानुगप्रकरपरस्परहर्षस्पर्धावर्धमानसगीतवादित्रवाचालितपरिसरा, तटनिकटवासिनो भगवतो नागेश्वरस्याट्टहासच्छटेव कूलकषाकारेणावस्थिता, तत्रभवतोऽरुन्धतीजानेः कीर्तिरिव स्रोतोरूपेण परिणता, पार्वणचन्द्रचन्द्रिकानिष्यन्दधारेव चिरसचिता, ज्योतीरसप्रसतिरिव प्रचेतसः, श्वेतचन्दनललाटिकेव भुवः, मुकुरफलिकेव कुबेरककुभः, वैकुण्ठकच्येव कमलोपभोगमुदितमधुसूदननादनन्दिता, वह्निकाष्ठेव पुण्डरीकमण्डिता, नरवाहनससदिव प्रकटशङ्खपद्ममकरकच्छपा, सभङ्गाप्यभङ्गा, वसिष्ठतनया भगवती सरयूर्वहति ॥२६॥

यस्या इति । यस्या दक्षिणायाश्च । उत्तरभागे उत्तरस्या दिशि । सरयूतन्नाम्नी सुप्रसिद्धा नदी । वहति समुच्छलतीति व्यवहितेनान्वय । किं विशिष्टा सेत्यपेक्षायाम्—

विमलतरतरङ्गेषु शुद्धोर्मिषु, रिङ्गन्ति मूर्छन्ति, प्रतिबिम्बानि प्रतिच्छाया येषाम्, तथाभूतै । वैकर्तनातपस्य सौरोद्योतस्य, तापेन सज्वरेण, तप्ततया प्लुष्टतया । अवगाहनाय मज्जनाय । कृतप्रयासै विहितप्रयत्नै, इव । माध्यदिननियमाय माध्याह्निकानुष्ठानाय । तटोपविष्टाना तीरे निषण्णानाम् । षट्कर्मणाम्—षट् कर्माणि वेदाध्ययनाध्यापनादीनि येषा तेषाम्—अग्रजन्मनाम् । आतपापनोदार्थं निदाघवारणाय । उद्यद्भि, व्रततीना वल्लरीणा—वितानै विस्तारै उपगूढाना वेष्टिताना विटपाभोगाना काण्डशाखापल्लवपत्रपुष्पफलसपदा—कैतवेन व्याजेन । धृतातपत्रै गृहीतच्छत्रै, इव । उदयास्ताचलयो मध्ये भ्रमणशीलस्य । भगवत सप्तसप्ते सप्ताश्वस्य । प्रान्तरसचरस्य दूरशून्यस्याध्वन, अतिक्रमणेन उल्लङ्घनेन क्लान्ता श्रान्ता, ये रथ्या रथस्य वोढार अश्वा । 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' (पा० ४।४।७६) इति यत् । पथ्य हितम्, यत् पाथेय पथि साधु । 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्' (पा० ४।४।१०४) इति ढञ् । तदर्थम् । अनूरो सूरसूतस्य, शिष्टे आज्ञया, सपादितै सचितै, शष्पकूटाना बालतृणपुञ्जानाम्, शृङ्गै

शिखरै, इव। पादपकदम्बकै वृक्षव्रातै। अलक्रियमाणानि भूष्यमाणानि, कूलानि तीराणि यस्या, तथाभूता। मदेन मत्तानि, यानि राजहसाना हसविशेषाणाम्, कुलानि यूथानि, तेषा केलिभि क्रीडाभि, परिश्रान्ता ये पाठीना मत्स्यभेदा, तेषा पुच्छपरिवर्तनेन पुच्छान्दोलनेन, अवधूतानि कम्पितानि यानि निकचानि स्फुटितानि, पङ्केरुहाणा पङ्कजाना पटलानि, तेभ्य विगलता क्षरताम्, मकरन्दबिन्दूना सदोहै, वासितानि अधिवासितानि, तोयानि यस्या तथोक्ता। अवगाहनाय मज्जनाय, अवतारिता हस्तिपकै प्रापिता, या मत्तमातङ्गघटा गन्धगजयूथानि, तासा कपोलपालीभ्य गण्डस्थलीभ्य। 'प्रशसावचनैश्च' (पा० २।१।६६) इति समास। श्च्योतन्तीभि क्षरन्तीभि, मदधाराभि दानलेखाभि, कषायिता तिक्ता, कल्लोला ऊर्मय यस्या तथोक्ता। विविक्ते विजनपूते, तटे निहित निक्षिप्त, य स्फाटिकपट्ट स्फटिकशिलातलम्, तत्र निविष्टा उपविष्टा, ये महर्षय, तै हर्षेण समुदीर्यमाणाना स्वरव्यक्तिपुरस्सर पठ्यमानानाम् उपनिषदा निनादै रावै मधुरा रुचिरा। स्नानाय आगता, ये वालखिल्यजना मुनिविशेषा, तै जेगीयमाना पापठ्यमाना, सूक्तस्तवाना स्तोमा समुदाया यस्याम्, तथाभूता। अभिषेकाय अवगाहनाय, अवतीर्णा कृतावतरणा, या पौरा पुरभवा रमण्य, तासा कुचकुम्भयो। 'स्तनादीना द्वित्वविशिष्टा जाति प्रायेण' (वामसू १।५।१७ इति वामन। कुकुमपुञ्जेन कश्मीरजन्यकेशरपरागस्तोमेन, पिञ्जरीक्रियमाण सलिलसतान वारिपूर यस्या, तथाभूता। 'पिञ्जर पीतरक्ताभ' इति। दिव्यदोहददानार्थम् आयाता, ये नववधूवरयो अनुगप्रकरा सहचारिवर्गा, तेषा परस्परहर्षस्पर्धाभि वर्धमाने सगीतै –

'धातुमातुसमायुक्त गीतमित्युच्यते बुधै।
तत्र नादात्मको धातुर्मातुरक्षरसचय ॥'

इत्यादिनिरूपितै। वादित्रै ततानद्धशुषिरघनादिभि आतोद्यपदाभिलप्यै, वाचालित मुखरित, परिसर यस्या, तथाभूता। तटनिकटवासिन समीपवसते। भगवत सकलसिद्धिसद्मन। नागेश्वरस्य तदाख्यज्योतिर्लिङ्गस्य। ' नागेश दारुकावने।' (शिवपु० ज्ञानस० ३८ अ० १६ श्लो०) इति पुराणवचनात्। अट्टहासच्छटेव हसितराशिरिव। कूलकषाकारेण नदीरूपेण। अवस्थिता। हास श्वेत इति कविसमय। तथा चोक्त साहित्यदर्पणे सप्तमपरिच्छेदे–

'मालिन्य व्योम्नि पापे, यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्यो
रक्तौ च क्रोधरागौ, सरिदुदधिगत पङ्कजेन्दीवरादि ।'

इत्यादि। तत्रभवत पूज्यस्य। अरुन्धतीजाने वसिष्ठस्य। कीर्तिरिव समङ्गेव। स्रोतोरूपेण प्रवाहाकारेण, परिणता। पार्वणस्य पार्विकस्य, चन्द्रस्य इन्दो, चन्द्रिकानिष्यन्दधारेव ज्योत्स्नाप्रवाहपारम्परीव। चिरसचिता चिराय राशीकृता। ज्योतीरसस्य स्फटिकमणे, वसति अवस्थानम्, इव। प्रचेतस वरुणस्य। श्वेत चन्दनस्य मलयजस्य, ललाटिका ललाटभूषणम्, इव। 'कर्णललाटात्कनलकारे' (पा० ४।३।३५) इति कन्। भुव भूदेव्या। मुकुरफलिकेव दर्पणबिम्बमिव। कुबेरककुभ धनददिश। दिशो विभुत्वेन सर्वगतत्वेऽपि विन्ध्याद्रेरवविकल्पनया तथात्वाख्यानम्। वैकुण्ठस्य, कद्येव प्रासादप्रकोष्ठ इव। कमलाया इन्दिराया उपभोगेन, अन्यत्र, कमलाना वारिरुहाम्, उपभोगेन सचरणेन, मुदित प्रसन्न य मधुसूदन नारायण, परत्र, ये मधुसूदना मधुलिह, तन्नादेन, नन्दिता समृद्धा। वह्निकाष्ठा आग्नेयीदिग्, इव। पुण्डरीकेण तन्नाम्ना दिक्कुञ्जरेण, अन्यत्र, पुण्डरीकै सिताम्भोजै, मण्डिता भूषिता। नरवाहनस्य धनदस्य, ससत् सभा, इव। प्रकटा आविर्भूता, शङ्ख पद्म मकर-कच्छपाख्या निधिविशेषा यस्याम्, तथाभूता। परत्र, प्रकटा रिङ्गन्त, शङ्खा पद्मानि, मकरा कच्छपा, तदाख्यवस्तूनि यस्याम् तथोक्ता। सभङ्गा भङ्ग प्राप्ता, अभङ्गा भङ्गेन रहिता, न स्याद्। अपि विरोधे। परिहारे तु–भङ्गै तरङ्गै सह वर्तमाना सभङ्गा। अथ अभङ्गा, गङ्गायमुनादिरिव नानोपद्रवेण वर्जिता। वसिष्ठस्य तनया वासिष्ठीति जह्नोर्जाह्नवीव पुराणेतिहास-प्रसिद्धा। अत्र मामक पद्यम्–

'अश्रान्त तव सनिधौ निवसत कूलेषु विश्राम्यत
पानीय पिबत क्रिया कलयतस्तत्त्व पर ध्यायत।
उद्यत्प्रेमतरङ्गभगुरदृशा वीचिच्छटा पश्यतो
दीनत्राणपरे! ममेदमयता वासिष्ठि! शिष्ट वय ॥३॥' (सरयूसुधा)

इति। भगवती रूपान्तरग्रहणक्षमा, न तु वारिरूपैव ॥३६॥

मज्जन्नागरनायिकाकुचघटीसघट्टभग्नीभव–
त्पुष्यत्सारसशुक्लकृष्णकमलारण्यस्य पत्रव्रजः।
जङ्घालो मरुता निरन्तरमहो यो व्योम्नि सकीर्यते
मुग्धास्त कलयन्ति तारकततीप्रत्युप्तनीलाम्बरम् ॥४०॥

मज्जन्नागरेति। मज्जन्तीनाम् अवगाहमानानाम्, नागरनायिकाना पौररमणीनाम्, कुचघटीसघट्टेन स्तनकलशावमर्दन, भग्नीभवन्ति त्रुट्यन्ति,

पुष्यन्ति विकस्वराणि, सारवाणि सरय्वा भवानि, यानि शुक्लकृष्णकमलानि पुण्डरीकेन्दीवराणि, तेषाम् अरण्यस्य काननस्य । पत्राणां दलानाम्, व्रज व्रात । जङ्घाल वेगवान्, अर्थात् मरुता दिक्षु विदिक्षु विक्षिप्त । य व्योम्नि मरुता निरन्तर सकीर्यते विकीर्यते । मुग्धा भ्रान्ता । त तारकाना नक्षत्राणाम्, ततीभि पङ्क्तिभि, प्रत्युप्त घटितम्, नीलाम्बर नील नभ । कलयन्ति जानन्ति । अहो आश्चर्यम् । शार्दूलविक्रीडित छन्द ॥४०॥ इति पुरीवर्णनम् ।

तामध्युवास रुचिरा कुलराजधानी
भूवासवो दशरथः श्रुतपारदृश्वा ।
लेभे यमात्मजतया जगदुद्दिधीर्षु-
र्नारायणः प्रकृतिपूरुषयोः परस्तात् ॥४१॥

तामिति । भुव भूपृष्ठस्य, वासव इन्द्र । श्रुताना शास्त्राणां, पारम् अन्त दृष्टवान् । दृशे क्वनिप् । 'दशरथ' इत्याख्य, दिलीपस्य प्रपौत्र, रघो पौत्र, अजस्य पुत्र । ता वर्णिताम् । रुचिरा मनोरमाम् । कुलस्य मन्वादिसतानस्य, राजधानीं राजशासनास्थानीम् । अध्युवास अधिवसतिस्म । 'उपान्वध्याङ्वस (पा० १।४।४८) इति आधारस्य कर्मत्वम् । प्रकृति मूलप्रकृति, पूरुष साक्षी ।

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृतिविकृतय सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृति पुरुष ॥' (साख्यका०३)

इत्यादिना व्युत्पादितौ प्रकृति-पुरुषपदार्थौ, तयो । परस्तात् पर । सर्वपुरुषयोनिरित्यर्थ । जगतो लोकस्य, उद्दिधीर्षु । उत्पूर्वाद् दधाते सन्नन्ताद् उप्रत्यय । नारायण –

'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव ।
ता यदस्यायन पूर्वं तेन नारायण स्मृत ॥'

इत्युक्त । आत्मजतया अपत्यत्वेन । य सुकृतिन दशरथम् । लेभे प्राप्तवान् । स्वेच्छयैव नान्यजनसाधारण्येन । य लब्ध्वा प्रादुर्बभूव इति तात्पर्यम् । वसन्ततिलकावृत्तम् । उक्त च पिङ्गलसूत्रे-

वसन्ततिलका त्भौ जौ गौ ।' (पिङ्गलसू० अ० ७।८)

यस्य पादे तकारभकारौ जकारौ गकारौ च तद्वृत्त वसन्ततिलकेत्युच्यत इत्यर्थ । एवमग्रेऽपि ॥४१॥

येनान्वभाषि भुवनान्तरजृम्भमाण-
कीर्तिप्रतापभरसौरभभास्वरेण ।
अस्तोपसर्गमधिकर्द्धि समृद्धभाव
राजप्रजाप्रणयबन्धननन्दनश्रीः ॥४२॥

येनेति । भुवनान्तरेषु लोकान्तरेषु, जृम्भमाणौ जागरूकौ, यौ कीर्तिप्रतापौ यश ओजसी, तयो भर प्राग्भार, स एव विमलावदानजन्यतया सौरभ सौगन्ध्यम्, तेन भास्वरेण प्रकाशमानेन । भासते कर्तरि वरच् । येन दशरथेन । अस्ता नष्टा, उपसर्गा, यस्मिन् कर्मणि । तथा अधिका अभिलाषातिशायिनी, ऋद्धि सपत् यस्मिन कर्मणि । तथा समृद्धा उदारा, भावा पदार्था, यस्मिन् कर्मणि । तद् यथा स्यात् तथा । राज्ञ रञ्जकस्य स्वामिन, प्रजाना प्रकर्षेण जायमानानाम्, यत् प्रणयबन्धन परस्परप्रीतिश्रृङ्खला, तदेव नन्दन महेन्द्रोद्यानम्, तस्य श्री इव श्री, काचित् सौभाग्यलक्ष्मी । अन्वभाषि अनुपूर्वाद् भाषे कर्मणि लुङ् ॥४२॥

यस्यौजस्तपनः सपत्नसुदृशामाविश्य चेतस्यर
तत्रत्या सुखसाधनी सरसता सशोष्य चक्रे पुनः ।
नेत्रद्वारपतत्पयोभरमिषाद्वर्षोदय तादृश
य वीक्ष्य स्मितहसमण्डलमगान्मुञ्चत्तदास्याम्बुजम् ॥४३॥

यस्येति । यस्य राज्ञो दशरथस्य । ओज प्रताप एव तापकत्वात् तपन उष्णधामा । सपत्नसुदृशा वैरिस्त्रीणाम् । अर द्रुतम्, चेतसि मानसे । आविश्य सक्रम्य । तत्रत्या तत्रभवाम् । सुखसाधनी सतोषावहाम् । सरसता सारस्यम् । सशोष्य खिलीकृत्य । पुन -नेत्रद्वाराभ्याम् अक्षिवर्त्मभ्याम्, पततो गलत, पयोभरस्य अश्रुप्रवाहस्य, मिषाद् व्याजात् । तादृश तथाभूतम् । वर्षोदय जलदागमम् । चक्रे कृतवान् । य वीक्ष्य अवलोक्य । तासा सपत्नसुदृशाम्, आस्याम्बुज मुखारविन्दम् । मुञ्चत् जहत् । स्मितमेव हसमण्डल मरालकुलम् । अगात् अयासीत् । इणो लुङि गाङादेशे रूपम् ॥४३॥

नाविद्वान्न शठो न कैतवपरो नाम्नायसिद्धान्तभि-
न्नानेकागमभेदभिन्नहृदयो न द्रोहदग्धाशय ।

नो सत्कारपराङ्मुखो न विधुरो लोको व्यलोकि क्वचि-
द्यस्मिन्नात्मजनिर्विशेषमवनीनाथे प्रजा रक्षति ॥४४॥

नेति । यस्मिन् दशरथे । अवनीनाथे वसुधाधिपे । आत्मजेभ्य अपत्येभ्य, निर्गत विशेष तरतमभावो यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात् तथा । प्रजा जनान् । रक्षति पालयति सति । क्वचित् क्वापि राष्ट्रे । अविद्वान् अज्ञ । लोक न व्यलोकि नो ऐक्षि । एव क्वचित् शठ –

'प्रिय वक्ति पुरोऽन्यत्र विप्रिय कुरुते भृशम् ।
व्यक्तापराधचेष्टश्च शठोऽय कथितो बुधै ॥'

इति विष्णुपुराणोक्तलक्षणलक्षित । एवम्–

'मनसा वचसा यश्च दृश्यते कार्यतत्पर ।
कर्मणा विपरीतश्च स शठ सद्भिरुच्यते ॥'

इति शब्दार्थचिन्तामणिनिरूपितश्च लोको न । कितवस्य खलस्य कर्म कैतवम् । तत्र पर परायणो लोको न । आम्नायस्य निगमागमस्य, सिद्धान्तम् उपादेयप्रमेयम्, भिनत्ति खण्डयति, इति आम्नायसिद्धान्तभिद् लोको न । तथा च रामायणम्–

'तस्य सदिदिहे बुद्धिर्मुहु सीता निरीक्ष्य च ।
आम्नायानामयोगेन विद्या प्रशिथिलामिव ॥' इति ।

अनेकेषा नानाप्रकाराणाम्, आगमाना शास्त्राणा, भेदै प्रक्रियाभेदै, भिन्न भेद प्राप्तम्, दोलायमानमिति यावत् । हृदय मानस यस्य तादृक् लोको न । द्रोहेण जिघासया, दग्ध हत आशयो वासना यस्य तथोक्त लोको न । सत्कार आगतस्वागतम् । तच्च–

'तृणानि भूमिरुदक वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सता गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥' इत्यवविक ।

तत्र पराङ्मुखो विरतव्यापारो लोको न । इहेद तत्त्वम्–

'प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियम
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीत परिचय ।
पुरो वा पश्चाद् वा तदिदमविपर्यासितरस
रहस्य साधूनामनुपधि विशुद्ध विजयते ॥'

इति। विधुरो इतिकर्तव्यताविकलो लोको न। 'व्यलोकि' इति सर्वत्रान्वेति ॥४४॥

यस्मिश्च चक्रवर्तिनि प्रकृति पालयति, छलप्रसङ्गो न्याये, न व्यवहारे, पदार्थकल्पनालाघव वैशेषिके, न प्राघुणिकसत्कारे, विकारोदय साख्ये, न सख्यावन्मानसे, प्राणनिग्रहो योगे, न नियोगे, आर्थीभावना मीमासायाम्, न नैष्ठिकेषु, मायावादो वेदान्ते, न प्रजासु, प्रत्ययलोपो व्याकरणे, न प्रतिज्ञातप्रदाने, परगुणच्छेदो ज्याचाप गणिते, न वाकोवाक्ये; अलकाराकलनं साहित्ये, नात्त्वदर्शके, कृष्णचरित पुराणे, न नागरेऽआवि ॥४५॥

यस्मिन्निति। यस्मिश्च दशरथे। चक्रे भूमण्डले राजमण्डले वर्तितु वा चक्र सैन्य वर्तयितु शीलमस्येति चक्रवर्ती। 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (पा॰सू॰ ३।२।७८) अवश्य चक्र वर्तयतीति तु—आवश्यके णिनि। तस्मिन् चक्रवर्तिनि सार्वभौमे। प्रकृतिं प्रजामण्डल पालयति रक्षति सति। छलस्य चतुर्दशस्य पदार्थस्य, प्रसङ्ग प्रसञ्जनम्। न्याये प्रमाणादिषोडशपदार्थीप्रतिपादके गौतमोपज्ञे दर्शने। न व्यवहारे अष्टादशधा विभक्ते व्यवहारपदे छल कपटमिति। पदार्थाना पारिभाषिकाणा कल्पनया लाघव तन्त्रान्तरापेक्षया गौरवनिरास। वैशेषिके सप्तपदार्थीप्रतिपादके कणादोपज्ञे दर्शने। न प्राघुणिकानाम् आगन्तुकाना सत्कारे शुश्रूषाया पदस्य व्यवसितादे अर्थस्य धनस्य कल्पनाया योजने लाघव सकोच इति। विकारस्य षोडशकगणस्य उदय उद्गम साख्ये कपिलोपज्ञे दर्शने। न सख्यावता पण्डिताना मानसे हृदयक्रोडे विकारस्य कामादिषड्‌र्मिविकृतेरुदय इति। प्राणानाम् असूना निरोधो योगे पातञ्जलदर्शने। न नियोगे राजकीयाज्ञाया प्राणाना निग्रहो बाध इति। आर्थी लिङाद्युपस्थाप्या भावना प्रवर्तना मीमासाया त्रयीव्यवस्थापकशास्त्रे जैमिनिसकलिते। न नैष्ठिकेषु ब्रह्मचारिविशेषेषु आर्थी धनसबन्धिनी भावना चिन्तेति। मायाया वाद अवतार अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतदित्यादिप्रक्रियाप्रपञ्चिते वेदान्ते उपनिषत्प्रमाणे शास्त्रे पाराशर्यसकलिते। न प्रजासु प्रकृतौ मायया वादो व्यवहारकल्पनेति। प्रत्ययस्य स्वादे लोप अदर्शन व्याकरणे पाणिनितन्त्रे। न प्रतिज्ञातस्य वस्तुन प्रदाने वितरणे प्रत्ययस्य विश्वासस्य लोप खिलीकार इति। परगुण राशित्रयस्य

व्याछेदो हर। परगुणच्छेद इति व्यवहारो ज्योतिषसिद्धान्तस्कधे सूर्यसिद्धान्तादौ। न वाकोवाक्ये उक्तिप्रत्युक्तिप्रस्तावे परेषा पराणा वा गुणाना छेद खण्डनमिति। अलकाराणा शब्दार्थोभयलक्षणाना भावस्करणव्युत्पन्नानाम् आकलन मीमासन साहित्ये काव्यप्रकाशादिसाहित्यशास्त्रे। न अक्षदर्शके व्यावहारिकपदे अल काराया ब धनालयस्य कलनम् अभियुक्तकृते विवेचनमिति। कृष्णस्य भगवतो देवकीनन्दनस्य चरितमितिवृत्त पुराणे ब्राह्मादौ। न नागरे पौरे कस्यचिदपि कृष्ण मलीमस चरित वृत्तमिति। 'अश्रावि' इति प्रत्येकमन्वेति। शृणोते कर्मणि लुङ् ॥४५॥

यस्य च कनकलतिकेव न कठोरा, तारकेव न वासरधूसरा, क्षणप्रभेव न क्षणप्रभा, तरङ्गिणी लावण्यपूराणा, जन्मजगती मदनविभ्रमाणा, चन्द्रशाला सुकृतविलासाना, रोहणस्थली पातिव्रत्यमाणिक्याना, कौसल्या कैकेयी सुमित्रेति परस्परानुग्रहा वेदत्रयीव धामत्रयीव लोकत्रयीव महिषीत्रय्यासीत्।

यस्येति । यस्य च राज्ञो दशरथस्य। कनकलतिकेव स्वर्णवल्लीव न कठोरा न कठिना शरीरत स्वभावतश्च। कनकलतिका तूभयतस्तादृशीति व्यतिरेक। एव तारकेव न वासरधूसरा, केवल नक्तमेव जाग्रती अपितु नक्तदिव प्रकाशमाना। क्षणप्रभेव चपलेव न क्षणप्रभा किंतु स्थिरकान्ति। तरङ्गिणी स्रोतस्वती, लावण्य प्रागव्याख्यात तत्पूराणा प्रवाहाणाम्। जन्मजगती उत्पत्तिस्थान मदनविभ्रमाणा मन्मथविलासानाम्। चन्द्रशाला शिरोगृह सुकृतविलासाना पुण्यपरिष्काराणाम्। रोहणस्थली जन्मभूमि। पति व्रत अस्या पत्यौ व्रत अस्या इति वा पतिव्रता। सा च—

'आर्तार्ते मुदिता हृष्टे प्रोषिते मलिना कृशा।
मृते म्रियेत या पत्यौ साध्वी ज्ञेया पतिव्रता ॥
सुप्ते पश्चाच्च या शेते पूर्वमेव प्रबुध्यते।
नान्य कामयते चित्ते सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥'

एवभूता। तस्या भाव एव माणिक्यानि रत्नविशेषा तेषाम्। कोसलस्य राज्ञ अपत्य स्त्री कौसल्या। 'वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्' (पा० सू० ४।१।१७१) 'यङश्चाप्' (पा० सू० ४।१।७४) सूत्रनिर्देशात् कोसलशब्दो दन्त्यसकारमध्य।

केकयस्य राज्ञोऽपत्य स्त्री कैकेयी । 'जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्' (पा० सू० ४।१।१६८) 'केकयमित्रयुप्रलयाना यादेरिय' (पा० सू० ७।३।२) 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरप' (पा० सू० ४।१।१५) इति ङीप् । सुमित्रा शोभन मित्र यस्या सेति समास । शोभनेन मित्रेण सहितेति वा । शोभनत्व च दाम्पत्यरूपेण मधुरसबन्धेन इति । परस्परेषा परस्परेषु वा अनुग्रह यस्या तथाभूता । वेदाना ऋग्यजु सामाथर्वणा त्रयीव । त्रयोऽवयवा ऋग्यजु साम लक्षणा यस्या सा त्रयी । आथर्वणेऽपि रचनात्रैविध्यस्य सत्त्वान्नाव्याप्तिरिति सूक्ष्मेक्षिकया द्रष्टव्यम् । धाम्ना सौरचान्द्रमसाग्नेयाना त्रयीव । लोकाना भूर्भुव स्वर्लक्षणाना भूम्यन्तरिक्षदिव्याना वा श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धाना त्रयीव । महिषीणा कृताभिषेकाणा त्रयी । आसीत् । अस्ते कर्तरि लङ् । अभवत् ॥४६॥

यथासमयमुपासितामपि निष्फलव्यवसिता गार्हस्थ्यगर्हामयीमिव महिषीत्रयी चिन्तयमाने चिन्तापरिष्यन्दमन्दिमानमुपेयुषि पुत्रार्थमश्वमेधक्रतुमाचरितुकामे भूशतक्रतौ मन्त्रिमतल्लिका सुमन्त्रोऽमुष्मै—

'देव ! किमुत्ताम्यसि, अवग्रहग्रहनिगृहीतेषु राज्ञो रोमपादस्य जनपदेष्वङ्गेषु सुधाधारानुकारया वृष्टिसृष्ट्या दृष्टब्रह्मवर्चसमहिम्नः शान्तासखस्य विभाण्डकसूनोर्ऋष्यशृङ्गस्य प्रभावेण तव पुत्रा जनिष्यन्ते ।'

इति भगवत्सनत्कुमारकथित पुराणवृत्त कथयाचक्रे । सोऽपि सुमना यियक्षन् वसिष्ठशिष्ट्याऽनेष्ट रोमपादजामातर सशान्तादार वैभाण्डकि महातेजसमयोध्यामलकृताम् ॥४७॥

यथेति । यथासमय यथा ऋतुकालम् । उपासिता निषेविताम् अपि । निष्फलम् अदृष्टप्रसव व्यवसित प्रयतन यस्या तथोक्ताम् । गृहस्थस्य कर्म गार्हस्थ्य तदेव शोच्यत्वात् गर्हा, तन्मयीमिव । महिषीणा राज्ञीना त्रयीम् । चिन्तयमाने अनुशोचति । चिन्ता अनपत्यताजन्यव्यथेत्यर्थ । तस्या परिष्यन्देन प्रस्रवणेन मन्दिमान मन्दताम् । उपेयुषि गतवति । पुत्रार्थं सतानाय । अश्वमेधक्रतु तदाख्य श्रौतमध्वरम् । आचरितुम् अनुष्ठातु कामो यस्य तादृशे । भूशतक्रतौ महीन्द्रे । मन्त्रिमतल्लिका प्रशस्तो मन्त्री । सुमन्त्र अन्वर्थनामा । अमुष्मै दशरथाय—

देव ! महाराज ! किं किमर्थम् । उत्ताम्यसि खिद्यसे । अवग्रहो वृष्टिप्रतिबन्ध स एव ग्रह व्यथक, तेन निगृहीतेषु ग्रस्तेषु । राज्ञो रोमपादस्य तदाख्यनृपते । जनपदेषु देशेषु । अङ्गेषु तदाख्येषु । सुधाधारानुकारया पीयूषपूरप्रतिमया । वृष्टिसृष्ट्या वर्षासर्गेण । दृष्ट परीक्षित, ब्रह्मवर्चसस्य ब्राह्मण्यस्य, महिमा प्रभाव, यस्य तादृश । शान्तासखस्य शान्तापते । विभाण्डकसूनो विभाण्डकाख्यमहर्षिपुत्रस्य । ऋष्यशृङ्गस्य ऋष्यशृङ्गनाम्नो महर्षे । प्रभावेण शुभाशसनेन तव भवत । पुत्रा सूनव । जनिष्यन्ते उत्पत्स्यन्ते ।'

इति इत्थभूतम् । भगवता सनत्कुमारेण ब्रह्मतनयेन कथितम् आदिष्टम् । पुराणवृत्त चिरतनवृत्तान्तम् । कथयाचक्रे वर्णितवान् । सोऽपि दशरथ । सुमना तद्वृत्तश्रवणेन सुमना हर्षमाण । यियक्षन् यष्टुमिच्छन् । वसिष्ठशिष्ट्या कुलगुरोर्वसिष्ठस्याज्ञया । रोमपादस्य जामातरम् ऋष्यशृङ्गम् । रोमपादो हि ऋष्यशृङ्गप्रभावादभिमता वृष्टिं समधिगत्य परितुष्ट तस्मै महर्षये स्वात्मजा शान्ता दत्तवानिति कथा रामायणादितोऽनुसधेया । सशान्तादार शान्तया दाराभि सह वर्तमानम् । वैभाण्डकिं विभाण्डकस्यापत्यम् ऋष्यशृङ्गम् । महातेजस लोकोत्तरप्रभावम् । अयोध्या पुरम् अलकृता तदागमनहर्षेण परिष्कृताम् । अनैष्ट आनीतवान् ॥४७॥

ततश्च यथावसर प्रत्यग्रोत्फुल्लपृथुलकमलिनीपटलाटोपपाटलायमानवाटिकापर्यन्ते, नूतनोन्निद्रसहकारमञ्जरीमधुरसास्वादमुदितमधुकरपुञ्जगुञ्जितदिङ्मुखे, नैकविधविटपिविटपाभोगनिर्यत्पुष्पपरागपरीतसञ्चरे, विकचकुसुमसौरभासारनीरन्ध्रितरोदसीके, वसन्तावतारे, सरयूत्तरतीरे यथाकल्पपरिक्लृप्ताया, प्रयत्नोपकल्पितवैतानिकसामग्रीसभृताया, सगौरववितीर्यमाणवस्तुजाताया, यथाक्रमसपाद्यमानसवनसतानाया, व्याप्रियमाणऋत्विक्प्रकाण्डाया, जाज्वल्यमानाऽग्निशरणायाम्, एकविंशतियूपोच्छ्रायाया, यथाशासनानीताश्वरत्नपुरस्सर पशुपरिष्कृताया, यज्ञभूमौ, भगवद्वसिष्ठऋष्यशृङ्गादेशमनुवर्तमानो गृहीतदीक्षः सपत्नीको विरराज महाराजः ॥४८॥

तत इति । ततश्च अनन्तरम् । यथावसर यथासमयम् । प्रत्यग्रोत्फुल्ला

नवविकासा, या पृथुला बहला, स्थलकमलिन्य स्थलस्य भूपृष्ठस्य कमलिन्य पद्मिन्य, तासा यत् पटल स्तोम, तस्य आटोपेन बहिम्ना, पाटलायमान श्वेतरक्तायमान, वाटिकापर्यन्तो यस्मिंस्तथाभूते। नूतनोन्निद्रा नवनवोन्मेषा, ये सहकारा आम्रविशेषा, तेषा सारा सर्वस्वभूता, या मञ्जर्य कुसुमोद्गमा, तासा मधुरसास्वादेन मकरन्दपानेन, मुदिता मत्ता, ये मधुकरा मधुलिह, तेषा पुञ्जेन प्रकरेण, गुञ्जितानि दिङमुखानि यस्मिंस्तथाभूते। नैकविधा नानाप्रकारा, ये विटपिना शाखिना, विटपाभोगा शाखादिविभवा, तेभ्यो निर्यन्त निर्गच्छन्त ये पुष्पपरागा कुसुमरजासि, तै परीत सकुल, सचरो मार्गो यस्मिंस्तथोक्ते। विकचानि विकसितानि, यानि कुसुमानि प्रसूनानि, तेषा सौरभासारेण सौगन्ध्यतरङ्गेण, नीरन्ध्रिता व्याप्ता, रोदसी द्यावापृथिव्योर्वपु यस्मिंस्तथाभूते। वसन्तस्य पुष्पसमयस्य सुरभे, अवतारे प्रादुर्भावे। सरय्वा उत्तरतीरे सौम्यतटे। यथाकल्प श्रौतसूत्रानुसार, क्लृप्ताया सपादितायाम्। प्रयत्नै प्रकृष्टव्यापारै, उपकल्पिता घटिता, या वैतानिकी याज्ञिकी, सामग्री वस्तुसभार, तया सभृताया परिपूर्णायाम्। सगौरव सादर, तत्तत्कर्मणि वितीर्यमाण प्रतिपाद्यमान, वस्तुजात पदार्थसार्थो यस्या तथोक्तायाम्। यथाक्रम यथाकल्प, सपाद्यमान अनुष्ठीयमान, सवनसतान यस्या तथोक्तायाम्। तत्तत्क्रियासु व्याप्रियमाणा नियुज्यमाना ऋत्विक्प्रकाण्डा प्रशस्ता ऋत्विज यस्या तथोक्तायाम्। जाज्वल्यमान प्रकाशमानम्, अग्निशरणम् अग्निशाला यस्या तस्याम्। एकविंशति श्रौतवर्त्मना एकविंशतिसख्याकानि यानि यूपानि काष्ठस्तम्भविशेषा, तेषाम् उच्छ्राय उच्छ्रृति यस्या तस्याम्। यथाशासन यथाशास्त्रम्, आनीतम् आहृतम्, अश्वरत्न तादृशलक्षणलक्षित अश्व, पुरस्सर अग्रेसर', यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा। पशुभि कल्पोक्तै अनेकै परिष्कृताया विशिष्टायाम्। यज्ञभूमौ अध्वरभुवि। भगवतो वसिष्ठऋष्यश्रृङ्गयो, आदेशम् आज्ञाम्, अनुवर्तमान अनुरुन्धान। गृहीता स्वीकृता, दीक्षा सयमविशेष, येन तथाभूत। सपत्नीक सपाणिगृहीतीक। महाराज दशरथ। विरराज रेजे ॥४८॥

ततश्च क्रमतः—

''कौशल्या त हय तत्र परिचर्य समन्ततः।
कृपाणैर्विशशासैन त्रिभिः परमया मुदा ॥
पतत्त्रिणा तदा सार्धं सुस्थितेन च चेतसा।
अवसद्रजनीमेकामव्यग्रा धर्मकाम्यया ॥

होताध्वर्युस्तथोद्गाता हयेन समयोजयन् ।
महिष्या परिवृत्त्याथ वावातामपरां तथा ॥
पतत्त्रिणस्तस्य वपामुद्धृत्य नियतेन्द्रियः ।
ऋत्विक्परमसंपन्नः श्रपयामास शास्त्रतः ॥
धूमगन्धं वपायास्तु जिघ्रतिस्म नराधिपः ।
यथाकालं यथान्यायं निर्णुदन् पापमात्मनः ॥
हयस्य यानि चाङ्गानि तानि सर्वाणि ब्राह्मणाः ।
अग्नौ प्रास्यन्ति विधिवत् समस्ताः षोडशर्त्विजः ॥"

(इत्यार्षषट्कम्) ॥४६॥

ततश्चेति । ततश्च क्रमतः वैवक्रमेणेत्यर्थः । इदानीं जैनबौद्धकल्पानां पिष्ट-पशुकल्पकानां ज्ञानाञ्जनशलाकायमानं वाल्मीकीयमार्षषट्कमवतारयति— **'कौशल्येत्यादिना षोडशर्त्विजः ॥'** इत्यन्तेन ।

'पर्यग्निकृतानारण्यान् उत्सृजत्यहिंसायाः' इति श्रौतसमयाचारात् आरण्यान् पशून् पर्यग्निकृतानुत्सृज्य शामित्रे विशसनकर्मणि ग्राम्याणां पशूनां यथाशास्त्रं नियोजनानन्तरमिति पूर्वेण संबन्धः । कौसल्या महिषी शामित्रप्रदेशे तं मृताश्वं समततः परितः, परिचर्य समन्त्रकं प्रदक्षिणाप्रदक्षिणं संचार्य, कृपाणैः तिसृभिः सौवर्णीभिः सूचिभिः, एनं अश्वं परमया मुदा निरवधिकश्रद्धया विशशास संज्ञपयामास । तदा विशसनोत्तरकाले, कौसल्या धर्मकाम्यया धर्मसिद्धिसंपाद-नेच्छया । काम्यजतादकारप्रत्यये टाप् । अव्यग्रा शवस्पर्शजनितमनोविकारशून्या पतत्त्रिणा अश्वेन सार्धं साकं एकां रजनीं रात्रिम् अवसत् अवात्सीत् । अयं भावः—तत्तन्मन्त्रोच्चारपूर्वकं महिषी यथाविधि अश्वमुपसंगम्य प्रजनने प्रजननं संनिधायोपविष्टा । ततोऽध्वर्युः क्षौमेन वाससा महिषीमश्वं च प्रच्छा-दितवान् । सा च रेतोधानमन्त्रमामृशन्ती आग्नीध्रे जागरणं कुर्वती निशां निनाय । होता, अध्वर्युः, उद्गाता, तथेतिपदेन ब्रह्मणोऽप्युपसंग्रहः । महिष्या कौसल्यया परिवृत्त्या एतत्पदपरिभाषितया उपेक्षितया च साकं वावाता भोगिनी अपरां पात्रप्रदां पालाकलीं च राज्ञो दक्षिणार्थं परिगृह्य हस्तेन समयोजयन् रमणवत् पाणिग्राहमगृह्णन् । तथा च सूत्रम्—

'महिषी ब्रह्मणे ददाति, वावाता होत्रे, परिवृक्तिमुद्गात्रे, पालाकलीमध्वर्यवे ।' इति । एतदुत्तर आसा निष्क्रयद्रव्यदानेन पुनरादान विधीयत इति सक्षेप । आसा निरुक्तिस्त्वेवम्–

'कृताभिषेका महिषी परिवृक्तिरुपेक्षिता ।
वावाता भोगिनी पात्रप्रदा पालाकली मता ॥'

तस्य पतत्त्रिणो अश्वस्य । 'पतत्त्रिपक्षितुरगावित्यमर' । वपा वपास्थानीया तेजनी 'नाश्वस्य वपा विद्यते' इति सूत्रात् । उद्धृत्य आदाय, नियतेन्द्रिय नियत अव्यग्र आन्तर बाह्य च इन्द्रिय यस्य तथाभूत, परमसपन्न परमेण प्रयोगादिसहकृतेन चातुर्येण सपन्न वित्त, ऋत्विक् याजक, शास्त्रत शास्त्र विहितेन विधिना, श्रपयामास पपाच । 'श्रा पाके' इत्यत कर्तरि लिट् । ततो वपाहोमकाले नराधिप मण्डलेश्वरो दशरथ', यथाकाल होमकालमनतिक्रम्य, यथान्याय यथाशास्त्र, आत्मन पाप ज्ञाताज्ञातोभयरूप सततिप्रतिबन्धकर निर्णुदन् निवर्तयन्, हुताया वपाया धूमगन्ध गन्धोद्गारिधूमसतान, जिघ्रतिस्म अजिघ्रत् । वपाहोमानन्तर अङ्गहोमे चिकीर्षिते षोडशर्त्विज षोडशसख्याका ब्राह्मणयाजका, विधिवत् यथाविधान हयस्य सर्वाण्यङ्गानि मन्त्रोच्चारपूर्वक अग्नौ यज्ञीयाग्नौ प्रास्यन्ति होस्यन्ति । 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वेति' लट प्रयोग । सर्वाणीत्यनेन सर्वस्य हुतत्वेन शेषभक्षण नास्तीति सूचितम् । अङ्गहोम फल त्वेव श्रूयते–

'अगे अगे वै पुरुषस्य पाप्मपोपश्लिष्ट, अगादगादेवैन पाप्मनस्तेन मु चतीति ।' यजमानस्य सर्वमपि पाप निवर्तत इत्याशय ।

यत्तु साप्रत कतिपये महेच्छा हिसाशब्दश्रवणमात्रादेवोद्विग्ना श्रुति-स्मृति समयाचारसिद्धामपि याज्ञिकीं पशुहिंसा प्रतिक्षिपन्त पिष्टपशुवर्त्मना व्यवहर्तु-मीहन्ते, युक्तितदाभासविजृम्भितैश्च प्राक्तनी मर्यादा विपरिवर्तयितुमुत्सहन्ते त इह मन्त्र ब्राह्मण-सूत्र मीमासादिरहस्यमुग्धतया कथमिव नोपालभ्या । नहि प्राणि हिंसाहेतुकत्वादेव क्रिमपि परिवर्जनीयतया प्रामाण्यकक्षामधिरोहति । एव 'अग्नीषोमीय पशुमालभते ।' (तै० स० ६ का० १ प्रपा०, ११ अनु०) तथैतत्सहधर्मिण्य 'सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभेत ।' 'कपिञ्जलानालभेत ।' इत्येवजातीयका श्रुतयोऽन्यथा योजयितु शक्यन्ते । शास्त्रविरोधात् यथारुचि-नियमासभवात्, अनाश्वासप्रसङ्गाच्चेति सर्वं यथायथ परीक्षणीयम् । न च

'माणवकस्य हृदयमालभते' इत्यादि दर्शनेन तथा श्रुत्यभिप्राय पिष्टपशुर्वेति वक्तु पार्यते । 'अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदस प्रेष्य अनुब्रूहि वा' इत्यत्र 'प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासप्रदाने (पा० सू० ७।३।६१) इति सूत्रभाष्यादिनापि छागरूपस्य पशोरेव सज्ञपनस्य सिद्धत्वात्। किच, 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्।' (ब्रह्मसू० अ० ३।२५) इति वेदान्तसूत्रमप्यत्रार्थे सवादमादधत् विभावनीयमिति दिक्।

स समापितमहामखः प्राची होत्रे, प्रतीचीमध्वर्यवे, उदीचीमुद्गात्रे, अवाची ब्रह्मणे च प्रादात्। ते तु न वय स्वाध्यायाचरणप्रवणा अरण्य-शरणा धरणी शासितुमीश्महे। तदेषा भवतैव शिष्यताम्। अस्मभ्यमद-सीयनिष्क्रयभूत यत्किचित्कल्प्यताम् इति सानुरोधमवादिषुः। तथोदितश्च साक्षात्कृतमन्त्रेभ्यस्तेभ्यो गवा जातरूपाणा रूपाणा च कोटीरितरे-भ्योऽपि यथाकाम प्रकाम वसु प्रदायाप्रीयत ॥५०॥

स इति। स दशरथ। समापित पारनीत, अश्वमेधाख्यो महामखो महाध्वरो येन तादृक्। प्राचीम्-अयोध्या केन्द्रीकृत्य प्राग्भूभागम्। होत्रे हौत्रकर्मानुष्ठात्रे ऋग्वेदविदे। प्रतीची प्रत्यग्भूभागम्। अध्वर्यवे आध्वर्यवकर्मा-नुष्ठात्रे यजुर्वेदविदे। उदीचीम् उत्तरभूभागम्। उद्गात्रे औद्गात्रकर्मानुष्ठात्रे सामवेदविदे। अवाचीं दक्षिणभूभाग च। ब्रह्मणे ब्रह्मकर्मानुष्ठात्रे सर्ववेदविदे आथर्वणिकाय। प्रादात् स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक प्रायच्छत्। ते प्रधानभूता होत्रादय चत्वार ऋत्विजस्तु। वयमेते स्वाध्यायाचरणेषु स्वस्वशाखाकलनेषु प्रवणा परायणा, अरण्यशरणा वनवासिन। स्वाध्यायसरक्षणार्थमेव विविक्त-वसतय इत्यर्थ। धरणीम् अवनीं शासितु पालयितु न नो ईश्महे प्रभवाम। तत् तस्माद् एषा धरणी, चिराय परिचितेन भवता त्वयैव शिष्यताम् पाल्यताम्। अस्मभ्यम् ऋत्विग्भ्य। अमुष्या इदम् अदसीय निष्क्रयभूत मूल्यत्वेन परिक-ल्पितम्। यत्किंचिद् वस्तु कल्प्यताम् निरूप्यताम्। इति इत्थ सानुरोध सप्रति-बन्धम्। अवादिषु अकथिषु। तथोदित उक्तश्च। साक्षात्कृतमन्त्रेभ्य स्वायत्ती कृतमन्त्रप्रतिपाद्येभ्य। तेभ्य ऋत्विग्भ्य। गवा गोतल्लजाना, जातरूपाणा स्वर्णाना, रूपाणा रूप्याणा च कोटी सख्याविशेषान्। इतरेभ्य होत्रादिसहाय-भूतेभ्य अन्येभ्योऽपि, यथाकाम यथेष्ट, प्रकाम भूरि, वसु द्रव्य, प्रदाय वितीर्य, अप्रीयत अतुष्यत् ॥५०॥

पुनश्च विनयशालीनेन तेन पुत्रकाम्यया प्रार्थितः स भगवानृष्यशृङ्गोऽथर्वशिरोमन्त्रैः पुत्रीयामिष्टिमकार्षीत्। अहो! महर्षेः प्रभावः कियत् श्लाघ्यताम्। यत्र मन्त्रव्याहारप्रादुर्भवद्देवताप्रसाददर्शनेन शब्दपूर्विका सृष्टिरिति वेदवादः पप्रथे। हहो इयतापि तावत्कथमिव न चित्रीयामहे, यदेतस्या इष्टेः पर्यवसानेन अपरिच्छिन्नोऽपि परिच्छिन्न इव कश्चिदिन्दीवरदाममञ्जिमा महिमाऽजनिष्ट ॥५१॥

पुनश्चेति। पुनश्च अपिच विनयशालीनेन नम्रेण तेन राज्ञा पुत्रकाम्यया सतानेच्छया प्रार्थित निवेदित स दृष्टमहिमा भगवान् षडैश्वर्यसपन्न ऋष्यशृङ्ग। अथर्वशिरोमन्त्रै सद्य फलप्रदै अथर्ववेदोक्तै सतानप्रवर्तकैर्मन्त्रै पुत्रीया पुत्रफलिकाम्, इष्टिं यागविशेषम्। अकार्षीत् अकृत। अहो! इत्याश्चर्ये। महर्षे ऋष्यशृङ्गस्य। प्रभाव तपोबलम्। कियत् इयत्तया कथमिव श्लाध्यताम् प्रशस्यताम्। यत्र इष्टौ, मन्त्रव्याहारेण मन्त्रपाठेन, प्रादुर्भवन्त्य प्रकटीभवन्त्य, या देवता मन्त्रप्रतिपाद्या, तासा प्रसाददर्शनेन प्रसन्नतावलोकनेन। शब्दपूर्विका सृष्टि–'भूरिति व्याहरन् भुव ससर्ज' इत्यादिलक्षणा। इति वेदवाद वैदिक सिद्धान्त, स्फुट व्यक्तम्, प्रपथे प्रथितो बभूव। हहो इत्याश्चर्ये। इयता एतावतापि। तावद् वाक्यालकारे। कथमिव किमिव, न नो चित्रीयामहे विस्मयामहे। यदेतस्या इष्टे, पर्यवसानेन परिणामेन, अपरिच्छिन्नोऽपि अमेयोपि, परिच्छिन्नो मेय इव, कश्चिद् अनिर्वचनीय। इन्दीवराणा नीलाम्बुरुहा, दाम्न स्रज इव, मञ्जिमा सौन्दर्य, यस्य तादृक्। महिमा प्रभाव। अजनिष्ट अजनि ॥५१॥

अत्रान्तरे दशमुखेन निपीड्यमाना
दावानलेन विकला इव जीवसघाः।
देवाः सरोरुहभुव पुरतो विधाय
नारायण नलिनलोचनमेतदूचुः ॥५२॥

अत्रान्तर इति। अत्रान्तरे अस्मिन्नेव यज्ञसमये। दश मुखानि आननानि, अङ्गविकारत्वात् यस्य स तेन। निपीड्यमाना बाध्यमाना। देवा इन्द्रादय। दावानलेन दवाग्निना। दवदावौ तु वनवह्नौ वनेऽप्युभौ–इति मेदिनी। विकला व्याकुला जीवसङ्घा इव। पशुप्राया इत्यर्थ। सरोरुहाद् भवतीति सरोरुहभू

पद्मयोनि । 'भुव सञ्ज्ञान्तरयो' (पा० सू० ३।२।१७६) इति कर्तरि क्विप् । तम् । पुरत अग्रे । विधाय कृत्वा । नलिनलोचन पुण्डरीकाक्षम् । नारायण विष्णुम् । एतद् वक्ष्यमाणम् । प्रधानकर्म । ऊचु कथयामासु ॥५२॥

त्रैलोक्यनायक ! विरञ्चिवरप्रभावाद्

दुःखाकरोति बहुधाद्य स रावणोऽस्मान् ।

तेनात्मसत्त्वमपहाय विहायस च

वर्तामहे वयमितस्तत आधिमन्तः ॥५३॥

त्रैलोक्येति । हे त्रैलोक्यनायक ! हे विश्वभर ! अद्य इदानीम् । विरञ्चि ब्रह्मा । ब्रह्मेत्युपलक्षणम् । शिवोऽपि । तस्य वरप्रभावात् प्रसादमहिम्न । स पौलस्त्य वैश्रवण रावण । लोकान् रावयति इति क्रियया विश्वध्रुक् । अस्मान् बहुधा सहस्रधा । दु खाकरोति पीडयति । 'दु खात्प्रातिलोम्ये' (पा० सू० ५।४।६४) इति डाच् । तेन हेतुना वयम्, आधि मानसपीडा, तद्वन्त । आत्मन सत्त्व वीर्यम् । अपहाय त्यक्त्वा । विहाया स्वर्ग त च अपहाय । आत्मसत्त्वमिहापि अन्वयनीयम् । इतस्तत यत्र तत्र । वर्तामहे जीवाम ॥५३॥

त्व शासकः सकलशासनकारकाणा

त्व पालकः खलनिपीडनकातराणाम् ।

त्व स्थापकः श्रुतिनिरूपितपद्धतीना

यत्र प्रयाणनिरता न खलु स्खलन्ति ॥५४॥

त्वमिति । हे भगवन् ! त्व भवान् । सकलानि समग्राणि यानि शासनानि, निग्रहानुग्रहरूपाणि, तेषा कारकाणा कर्तॄणाम्, अपि शासक नियन्ता । असि । एव च निमित्तमात्रेण उपेन्द्रसञ्ज्ञा श्रयन् इन्द्रादिबाधकस्य त्वमेवानन्यशरण इति लभ्यते । त्व भवान् । खला दुरात्मान, तेषा निपीडनेन बाधनेन, कातराणाम् अधीराणाम्, पालक रक्षक । असि । एतत्तु गुणप्राधान्येन तवैव कर्मेति । त्व भवान् । श्रुत्या वेदेन, निरूपिता व्यवस्थापिता, या पद्धतय मार्गा, तासा स्थापक व्यवस्थापक । असि । एतदपि पूर्वोक्ताम्रेडन, तत् स्तुतौ शोभनम् । यत्र वेदागमपद्धतिषु, प्रयाणनिरता गमनपरायणा, न खलु नैव, स्खलन्ति पतन्ति ॥५४॥

एकोऽपि तात्त्विकदृशा भुवनेश ! भूयो
भूयोभिरागमवचोभिरनेककोटिम् ।
आसादयन् नवनवाङ्कुरमेयभङ्ग्या
वाग्विभ्रमे भ्रमयसे प्रतिभाधिरूढान् ॥५५॥

एक इति । हे भुवनेश ! हे जगन्नाथ ! । त्व तात्त्विकदृशा परमार्थदृष्ट्या । एक केवलोऽपि । भूय पुन । भूयोभि बहुविधै । आगमवचोभि शास्त्रवाक्यै । अनेककोटिम् नानाप्रथाम् । आसादयन् प्राप्नुवन् । प्रतिभाम् अधिरूढान् वैतण्डिकान् । वाचा वाणीना, विभ्रम विकल्पे । नवनवा नवप्रकारा, अङ्कुरा उन्मेषा येषु, तथाभूता ये मेया प्रमेया, तेषा भङ्ग्या कोटिपरिष्कृत्या । भ्रमयसे मोहयसे ॥५५॥

पुंजातधर्मविधुरोऽपि विशिष्य ताव-
न्माया वशामतिरसादिव गूहमानः ।
ब्रह्माण्डसततिममूमसृजस्तदेत-
त्को वेद कोशपिहित तव नाथ ! तत्त्वम् ॥५६॥

पुंजातेति । हे नाथ ! हे स्वामिन् ! । त्वम् । पुसि जाता ये धर्मा कर्तृत्वभोक्तृत्वादय, तै विधुरो हीनोऽपि । निर्गुणत्वादिति भाव । तावद् वाक्यालकारे । अतिरसादिव बलवद्भोगगार्ध्यादिव । वशा स्वाधीनाम् । माया प्रकृतिम् । विशिष्य गृहमान आश्लिष्यन् । अमूम् एताम् । ब्रह्माण्डम् एव सतति, ताम् । असृज उत्पादितवानसि । पुधर्मेण विकल अर्थात् षण्ढोऽपि वशा वन्ध्या मायाम् आश्लिष्य यद् ब्रह्माण्डमकार्षी इति तात्पर्यम् । तदेतत् कोशपिहित कोशाच्छादितम् । तैत्तिरीयप्रतिपादिता अन्नमयादि पञ्च कोशा वेदान्तप्रसिद्धा एव । तव भवत । तत्त्वम् रहस्यम् । को वेद वेत्ति । न कोऽपीत्यर्थ ॥५६॥

हृत्कन्दराश्रयिणि बिभ्रति धर्ममेघ-
भाव भवत्यमृतवर्षिणि विश्वशिल्पिन् ! ।
व्याजृम्भमाणचितिशुक्तिनिरर्गलश्री-
रभ्येति मौक्तिककलामणुबिन्दुरेषः ॥५७॥

हृदिति । हे विश्वशिल्पिन् विश्वस्थपते ! हृदेव कन्दरा गुहा, तदाश्रयिणि। मानसगुहाधिष्ठातरीत्यर्थ । धर्ममेघभाव पातञ्जलप्रतिपादित धर्ममेघत्वम् । बिभ्रति बिभ्राणे । अमृतवर्षिणि अमृतमुचि । भवति त्वयि जागरूके । एष अयम् । अणुबिन्दु आणवादिमलेन सकुचत्प्रसर । व्याजृम्भमाणा विकस्वरा, या चिति चिदेव शुक्ति मुक्तास्फोट, तत्र निरर्गला सकोचविगलनेन स्वच्छन्दा श्री सुषमा यस्य तादृश सन् । मौक्तिकक्ला जीवन्मुक्तिदशाम् । अभ्येति प्राप्नोति । आणवादिमलत्रय तु–

'गोपितस्वमहिम्नोऽस्य समोहाद्विस्मृतात्मन ।
य सकोच स एवास्मिन्नाणवो मल उच्यते ॥१॥
षट्कञ्चुकव्याप्तिवशाद्विलोपितनिजस्थिते ।
भूतदेहस्थितिर्यासौ मायीयो मल उच्यते ॥२॥
यदन्त करणाधीनबुद्धिकर्मेन्द्रियादिभि ।
बहिर्व्याप्रियते कार्मं मलमेतस्य तन्मतम् ॥३॥'

इत्युक्तमाचार्यश्रीवामदेवपादै ॥५७॥

क्रोधानलक्कथितदैवतसिद्धसाध्यः
सोऽबाध्य एव सकलस्य मनुष्यवर्जम् ।
तस्मात् प्रभो ! दशरथात्मजतामुपेत्य
सद्यो विधेहि दशकण्ठवधेऽवधानम् ॥५८॥

क्रोधेति । क्रोध एव दाहकत्वात् अनल ज्वलन, तेन क्कथिता विशीर्णा । क्कथे निष्पाके क्त । दैवतानि सिद्धा साध्याश्च येन तथोक्त । स रावण । अन्वर्थनामा । मनुष्यवर्जं मनुष्य वर्जयित्वा । सकलस्य समस्तस्य । अबाध्य बाधनानर्ह एव । हे प्रभो ! स्वैरिन् ! । तस्माद् हेतो दशरथस्य राज्ञ, आत्मजता पुत्रभावम् । उपेत्य प्राप्य । सद्य शीघ्रम् । दशकण्ठस्य दशग्रीवस्य, वधे हनने अवधान प्रणिधान विधेहि कुरुष्व । 'दशकण्ठवधे काव्ये अवधान विधेहि' इति ध्वन्यते ॥५८॥

भूमण्डले वयमपि द्रुतमेव युष्म–
त्सेवाकृते विविधयोनिषु सभवामः ।

यत्र प्रकाशमधिगच्छति कल्पवृक्ष-
स्तत्रैव सर्वविभवा हि परिस्फुरन्ति ॥५६॥

भूमण्डल इति । हे प्रभो ! वयमपि, युष्मत्सेवाकृते युष्माकमाराधनाय । भूमण्डले भूतले । द्रुतमेव झटित्येव । विविधयोनिषु नानायोनिषु । यथोपयोग सभवाम उत्पत्स्यामहे । हि यस्मात्, यत्र कल्पवृक्ष प्रकाशमधिगच्छति उदेति । तत्रैव सर्वविभवा सर्वे उपयुक्ता भावा । परिस्फुरन्ति उद्यन्ति ॥५६॥

इत्युक्तवत्सु दिविषत्सु स दीनबन्धु-
र्नीलाचलोद्गतहिमांशुरुचिस्मिताभिः ।
पीयूषवर्षमधुराभिरुदारगीर्भि-
राश्वास्य तान्विधुरितान्नयनातिगोऽभूत् ॥६०॥

इतीति । इति इत्थम् । उक्तवत्सु कथितवत्सु । दिविषत्सु द्युसत्सु । स- दीनाना दुर्विधानाम् । बन्धु बान्धव । तान् दिविषद । विधुरितान् विह्वलान् । नीलाचलात् मरकताद्रे, उद्गत उदित, य हिमांशु हिमकर, तस्य रुचिवत् कान्तिवत्, स्मित यासु तादृशीभि । पीयूषवर्षवत् सुधावृष्टिवत् मधुराभि श्रवण- पेयाभि । उदारगीर्भि प्रशस्तवाग्भि । आश्वास्य सतोष्य । नयनातिग अन्तर्हित । अभूत् अजनिष्ट । एतानि नव वसन्ततिलकावृत्तानि ॥६०॥

ततो वैतानाद् वैश्वानरादुद्भूतो विष्वग्विसारिदीप्तिदीप्तः विग्रहवान् विभावसुरिव, नूतनस्तनयित्नुसच्छायकायो नवजवाकुसुमकान्तिवसनः शिशिरारुणरागरञ्जितमरकतशिखरीव लोहितोष्ठपल्लवः, प्रभाकरबिम्ब- किसलयितरोदसीशकलसधिरिव स्निग्धहर्यक्षरोमसोदरश्मश्रुमूर्धजः, सौदामनीदामदन्तुरितघनाघनाभोग इव दिव्याभरणसवीतः, सुरासुरसघर्ष इव सुलक्षणोऽपि विलक्षणः, दुन्दुभिस्वानगभीरया गिरात्मान प्राजा- पत्य पुरुष शसन्, वराभयस्तम्भाभ्यामिव दोर्भ्यां योगाहितसकोचा, भुवनाण्डप्रतिकृतिमिव दिव्यपायसपरिपूर्णां स्वर्णपात्रीम्, पुत्रीयते विनीताय दशरथाय वितीर्य तिरोधात् ॥६१॥

तत इति । तत अनन्तरम् । वैतानाद् वैश्वानराद् यज्ञाग्ने । उद्भूत सजात । विष्वग्विसारिणीभि सर्वतो विसृत्वराभि, दीप्तिभि प्रभाभि दीप्त । विग्रहवान् मूर्त । विभावसुर्वह्निरिव । नूतन नव, य स्तनयित्नु बलाहक, तेन सच्छाय समानकान्ति काय मूर्ति यस्य तादृक् । नवजवाकुसुमवद् वसन वास यस्य स । अरुणवासा इत्यर्थ । अतएव शिशिरारुण शिशिरकालिको य उषाद्योत, तस्य रागेण रञ्जितो विच्छुरित मरकतशिखरी नीलाद्रिरिव । स्थित इत्यर्थ । लोहितौ रक्तवर्णौ ओष्ठपल्लवौ यस्य स । अतएव प्रभाकरबिम्बेन सूर्यमण्डलेन किसलयिता पल्लविता या रोदसी, तस्या शकलसधि खण्डसधान मिव । स्थित इत्यर्थ । स्निग्ध मसृण यद् हर्यक्षस्य केसरिण रोम तत्सोदरा श्मश्रुमूर्धजा यस्य तादृक् । अतएव सौदामनीदाम्ना विद्युल्लेखया दन्तुरित सजातदन्तो घनाघनाभोगो मेघाडम्बर इव । स्थित इत्यर्थ । दिव्यै आभरणै अलकारै सवीत भूषित । पक्षे दिव्याभ रणो यस्मिन् इति । सुरासुराणा सघर्ष समर्द । शोभनानि लक्षणानि यस्य तादृक् विलक्षण लक्षणहीन न भवतीति विरोध । अपूर्व इति तत्परिहार । दुन्दुभिस्वानगभीरया दुन्दुभिराधीरया इत्यर्थ । गिरा वाचा । आत्मान स्वम् । प्राजापत्य पुरुष पुमास शसन् सूचयन् । वराभययो स्तम्भाभ्याम् इव । दोर्भ्या बाहुभ्याम् । योगेन योगविभूत्या, आहित निहित सकोचो यस्या तादृशीम् । भुवनाण्डस्य प्रतिकृतिं प्रतिमानमिव । दिव्येन अलौकिकेन पायसेन चरुणा परिपूर्णा सभृताम् । स्वर्णपात्री सुवर्णभाण्डम् । पुत्रीयते पुत्रमिच्छते । विनीताय नम्राय । दशरथाय राज्ञे । वितीर्य दत्त्वा । तिरोधात् अन्तरधात् ॥६१॥

सोऽपि दरिद्रो रत्नखनिमिव तामवाप्यानन्दसदोहतरङ्गितो वीतसतापशल्यायै कौशल्यायै ततः पायसार्धम्, उदञ्चन्मोदमात्रायै सुमित्रायै तदर्धादर्धम्, प्रमदमय्यै कैकेय्यै तदवशिष्टादर्धम्, पुनरनर्घ्यचरित्रायै सुमित्रायै तदवशिष्टार्धमपि प्रायच्छत् ॥६२॥

सोऽपीति । सोऽपि राजा । दरिद्र निस्व । रत्नखनिमिव मणिरोहणस्थलीमिव । ता पायसस्वर्णपात्रीम् । अवाप्य । आनन्दसदोहतरङ्गित आह्लादमग्न इत्यर्थ । वीतो निर्मूल, सताप अनपत्यतालक्षण एव शल्यो यस्या सा तस्यै कौशल्यायै । तत स्वर्णपात्र्या पायसार्धम् । उदञ्चन्ती उच्छलन्ती, मोदमात्रा आनन्दातिशय, यस्या तस्यै । सुमित्रायै तदर्धादर्धम् । प्रमद हर्ष प्रस्तुत

अस्या सा प्रमदमयी । तत्प्रकृतवचने मयट्, ङीप् । तस्यै कैकेय्यै तदवशिष्टादर्धम् । पुन भूय । अनर्घ्यं अमूल्य चरित्र पातिव्रत्य यस्या तस्यै, सुमित्रायै तदवशिष्टार्धमपि प्रायच्छत् प्रादात् ॥६२॥

ता नरेन्द्रदयिता निराधयो
भाविभावुकनिषण्णमानसाः ।
पुत्रहेतुरिति बृंहितादर
प्राश्य पायसमतीव रेजिरे ॥६३॥

ता इति । ता कौशल्याप्रभृतय । भाविनि भविष्यति, भावुके मङ्गले, निषण्णम् आरूढम्, मानस मन, यासा ता । नरेन्द्रस्य राज्ञो दशरथस्य दयिता प्रिया । पुत्रहेतु पुत्रकारणमिति । बृंहित उपोद्बलित, आदर यस्मिंस्तादृशम् । पायस पूर्वलक्षण पयोविकारविशेषम् । प्राश्य भुक्त्वा । निर्गता निर्मूलिता, आधय मानसव्यथा यासा तथाभूता सत्य । अतीव अत्यर्थम् । रेजिरे शुशुभिरे ॥६३॥

भेजिरेऽथ तनुतः प्रभावतो
गौरव किमपि ताः समन्ततः ।
प्रेयसा त्रिदशराजबन्धुना
यत्र दोहदविधाः सुपूरिताः ॥६४॥

भेजिर इति । अथ ता समन्तत समन्तात् । तनुत शरीरेभ्य । प्रभावत प्रभावेभ्य । किमपि अनिर्वचनीयम् । गौरव गुरुभावम् । भेजिरे आसेदु । यत्र यस्मिन् काले । त्रिदशाना राजा महेन्द्र, बन्धु सखा यस्य तथोक्तेन । प्रेयसा तासा प्रियतमेन । दोहदाना विधा प्रकारा । सुपूरिता प्रवाहिता । न हीन्द्रसख्ये त्रिलोक्या किमपि दुर्लभमिति भाव । इमे रथोद्धतावृत्ते ॥६४॥

चैत्रशुक्ले नवम्या तिथावादितेयर्क्षके
कर्कलग्ने तुषारांशुवागीश्वराधिष्ठिते,
तुङ्गयातेषु खेटेषु पञ्चस्वपास्ताखिलो-
त्पातसतानसबन्धगन्धाङ्क रेऽनेहसि ॥

रामभद्रेति रम्येण पुण्येन नाम्ना मुहुः
मत्कवीना वचोवल्लरीः स्फारमुद्वेल्लयन्,
सर्वमानन्दयन् शर्म संचारयन् साध्वस
भञ्जयन् मङ्क्षु सोऽसावि कौशल्यया श्रीहरिः ॥६५॥

चैत्रेति । स श्रीहरि । चैत्रशुक्ले नवम्या तिथौ । आदितेयर्क्षके पुनर्वसु-नक्षत्रे । तुषारांशुवागीश्वराभ्या चन्द्रगुरुभ्याम् अधिष्ठिते कर्कलग्ने । पञ्चसु खेटेषु ग्रहेषु । तुङ्गयातेषु उच्चस्थितेषु । अपास्ता निरस्ता, अखिला समग्रा, ये उत्पातसताना भौमदिव्यान्तरिक्षरूपा, तेषा सबन्धगन्धाङ्कुरा, सपर्कलेशोद्गमा, यस्मिंस्तथाभूते । अनेहसि काले । रम्येण शब्दतोऽर्थतश्च मनोहरेण । पुण्येन पवित्रेण पावित्र्यजनकेन च । रामभद्रेति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धेन । नाम्ना अभिधानेन । मुहु वारवारम् । मत्कवीना वाल्मीकिव्यासादीनाम् । वचोवल्लरी वागव्रतती । स्फारम् अत्यर्थम् । उद्वेल्लयन् बृंहयन् । सर्वं स्थावरजङ्गमात्मकम् । विश्वम् आनन्दयन् आह्लादयन् । शर्म सुखम् । सचारयन् प्रवर्तयन् । साध्वस भयम् । भञ्जयन् मर्दयन् सन् । कौशल्यया भगवत्या महाराज्या । मङ्क्षु सपदि । अनायासमित्यर्थ । असावि उदपादि ॥६५॥

स्फुरन्मरन्दसौरभप्रवाहवासनोत्सुक-
भ्रमन्मिलिन्दकाहलीविजृम्भणावभासिता,
दिवो निपेतुरुच्चकैरुदारपारिजातक-
प्रसूनवृष्टयस्तदा निलिम्पलोककल्पिताः ॥

दिशः प्रशस्तदर्शनाः समीरणाः सुखावहा
भुवः प्रकर्षसगता जनाः प्रसन्नतामिताः,
विचित्रकर्मभोगतः क्वचिच्चराचरान्तरे
निविष्टजीवचेष्टिता वय प्रसादमागताः ॥६६॥

स्फुरदिति । तदा तदानीम् । दिव आकाशाद् उच्चकै । निलिम्पलोकै देवकुलै, कल्पिता सृष्टा । स्फुरन्त उन्निद्रा, ये मरन्दाना मकरन्दानाम्, सौरभप्रवाहा सौगन्ध्यतरङ्गा, तेषा वासनया लिप्सया, उत्सुका उत्कण्ठिता,

अतएव भ्रमन्त , ये मिलिन्दा भ्रमरा , तेषा काहलीविजृम्भणया ध्वनिविशेषा विष्कारेण अवभासिता नीरन्ध्रिता । उदारा पारिजातकप्रसूनाना वृष्टय वर्षणानि । निपेतु पतिता । दिश आशा । प्रशस्तदर्शना सुखालोका । समीरणा वायव । सुखावहा स्पृहणीयस्पर्शा । भुव कृत्रिमाकृत्रिमस्थलप्रदेशा । प्रकर्षसगता स्वस्वगुणोत्कर्षे हृदयगमा । जना लोका । प्रसन्नता प्रसादम् । इता प्राप्ता । विचित्र भाविकवादेन विलक्षण, यत् कर्म शरीरवाङ्मनोभिरारब्धम्, तद्भोगत तद्भोगाय । क्वचित् कस्मिंश्चित् । चराचरान्तरे स्थावरजङ्गमलक्षणे सर्गे । निविष्ट लीन, जीवस्य बलप्राणधाम्न, चेष्टित विलसित, येषा तादृश । वय सप्रति वर्तमाना अपि । शाब्देन आर्थेन च व्यापारेण प्रसादम् आगता प्रतिपन्ना इति पुनरुक्तप्रायम् ॥६६॥

पुष्यर्क्षे क्षितिजमुपागते झषे विलग्ने
सलग्नप्रमदनिशामनाश्रिते जनौघे ।
सौभ्रात्रप्रकरणतात्त्विकप्रमेयकल्य
कैकेयी भरतमसूत भूरिभाग्यभव्या ॥६७॥

पुष्यर्क्षे इति । भूरि भूयिष्ठ, यद् भाग्य भागधेय, तेन भव्या शोभना । कैकेयी राज्ञी । पुष्यर्क्षे पुष्यनक्षत्रे । झषे विलग्ने मीनाङ्के । क्षितिज क्षितिज-रेखाम् । उपागते प्राप्ते । मीने उदिते सतीत्यर्थ । सलग्न सश्लिष्ट, य प्रमद आनन्द , तस्य निशामनेन आकर्णनेन, आश्रिते । जनौघे अन्त पुरवर्गे । सौभ्रात्रप्रकरणस्य भ्रातृस्नेहपूर्ते , यत् तात्त्विकप्रमेय मार्मिकरहस्य, तत्र कल्य निष्णातम् । भरत तन्नामानम् । असूत अजीजनत् ॥६७॥

सार्पे कर्कटलग्नेऽभ्युदिते मार्तण्डके महाभागौ ।
तौ लक्ष्मण-शत्रुघ्नौ प्रासोष्टार्या सुमित्त्रापि ॥६८॥

सार्पे इति । आर्या महनीया । सुमित्त्रापि राज्ञी । सार्पे आश्लेषानक्षत्रे । कर्कटलग्ने कर्कोदये । मार्तण्डके सूर्ये । अभ्युदिते सति । तौ महाभागौ महाशयौ । लक्ष्मण शत्रुघ्नौ तन्नामानौ । यमलावित्यर्थ । प्रासोष्ट प्रासूत ॥६६॥

यथाकल्प भगवता वसिष्ठेन कल्पिते सस्कारजाते ते रामभद्रादयश्चत्वारो भ्रातरो विद्याना विनयाना च सक्रान्तिमणिदर्पणा नवनवैरिन्दुकिरणैरिव स्वभावमधुरैरात्मगुणैः सह लोकाना हृदयान्यध्यवात्सुः। परस्परप्रेमबन्धेष्वपि तेषु प्रकृत्या चन्द्रः सूर्यमिव लक्ष्मणो राम शत्रुघ्नो भरतमन्वसार्षीत् ॥६९॥

यथेति। यथाकल्प यथागृह्यसूत्रशासनम्। भगवता वसिष्ठेन कुलगुरुणा। कल्पिते अनुष्ठिते। सस्कारजाते सस्कारकलापे सति। ते रामभद्रादयश्चत्वारो भ्रातर। विद्याना चतसृणा त्रयीप्रभृतीना, विनयाना च शीलाना च। सक्रान्तये सक्रमणाय, मणिदर्पणा रत्नमुकुरबिम्बा। नवनवैरिन्दुकिरणै वर्धिष्णुसुधाशुकरैरिव। स्वभावमधुरै प्रकृतिपेशलै। आत्मगुणै स्वचरित्रै। सह समम्। लोकाना जनानाम्। हृदयानि मानसानि। अध्यवात्सु अधिवसन्तिस्म। परस्परेषाम् अन्योन्येषा, प्रेमबन्धा स्नेहग्रन्थय, येषा तेषु अपि। तेषु रामभद्रादिषु। प्रकृत्या स्वभावेन। चन्द्र चन्द्रमा। सूर्यं सवितारमिव। लक्ष्मणो राम, शत्रुघ्नो भरतम्। अन्वसार्षीत् अन्वयासीत् ॥६९॥

दन्तैरिवाभ्रमातङ्गो भुजैरिव जनार्दनः।
आश्रमैरिव सद्वर्णः सुतैर्दशरथोऽरुचत् ॥७०॥

दन्तैरिति। अभ्रमातङ्ग ऐरावत। दन्तै चतुर्भिर्दशनैरिव। जनार्दन विष्णु। भुजै चतुर्भि बाहुभि इव। सद्वर्ण ब्राह्मणादि। आश्रमै ब्रह्मचर्यादिभिश्चतुर्भिरिव। दशरथो राजा, सुतै रामभद्रादिभि। अरुचद् अरोचिष्ट ॥७०॥

कृतरत्नाकरोल्लासो हृतलोकतमोमलः।
प्रसन्नमण्डलो राजा विरराज करोज्ज्वलः ॥७१॥

कृतेति। कृत सपादित, रत्नाकराणा रत्नखनीना समुद्रस्य च, उल्लासो वृद्धि, येन तादृक्। हृत दूरीकृत, भूरादीना जनाना च, तमोमल अज्ञानग्रन्थि अन्धकारश्च, येन तादृक्। प्रसन्न मुदित निर्मल च, मण्डल सामन्तवर्ग बिम्बश्च, यस्य तादृक्। करै भागधेयै अशुभिश्च, उज्ज्वल विशुद्ध स्वच्छश्च। राजा दशरथ, चन्द्रमाश्च। विरराज विरेजे ॥७१॥

अवाप्य परमोच्छ्राय प्रकाश्य परितो महः ।
आक्रान्तजगतीचक्रो राजहसो व्यरोचत ।।७२।।

अवाप्येति । आक्रान्त स्वाधीनीकृत शासनेन चङ्क्रमणेन च जगतीचक्र भूमण्डल येन तथाभूत । राजहस, राजशार्दूल मरालराजश्च । परमोच्छ्राय महती श्रिय गतिविशेष च । अवाप्य आलम्ब्य । परित समन्तात् । मह तेज धाम च प्रकाश्य निरूप्य च । व्यरोचत व्यद्योतत ।।७२।।

सरस्वतीन्दिराधौते प्रवेष्टविटपाश्रिते ।
तस्य खड्गलताभोगे चिर चिक्रीड मेदिनी ।।७३।।

सरस्वतीति । तस्य राज्ञो दशरथस्य । सरस्वतीन्दिराभ्या धौते निर्णिक्ते । प्रवेष्टौ बाहू एव विटपौ, तदाश्रिते तदालम्बने । खड्गो निस्त्रिंश एव, लता वल्ली, तदाभोगे झलञ्झलायाम् । मेदिनी चिर चिक्रीड । सुखेन सौरभमाससादेत्यर्थ । वीरभोग्या हि वसु धरेति तात्पर्यम् ।।७३।।

पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात्
स्यात् क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात् ।
वणिग्जनः पण्यफलत्वमीयाज्-
जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात् ।।७४।।

पठन् द्विज इत्यादि मूलरामायणानुरूपम् । विशेषस्त्वग्रे ।।७४।।

तातश्रीसरयूप्रसादचरणस्वर्वृन्तसेवापरो
मातृश्रीहरदेव्यपारकरुणापीयूषपूर्णान्तरः ।
साकेतापरभागबद्धवसतिदुर्गाप्रसादः सुधी-
रास्ते तेन कृतेऽत्र रामचरिते गुच्छोऽयमाद्यो गतः ।।७५।।

इति श्रीमति रामचरिते दशकण्ठवधे भगवदवतारो नाम प्रथमो गुच्छकः ।

अथ द्वितीयो गुच्छकः ।

अथ—'योऽद्वैतसिद्धान्ततरङ्गिताया वेदान्तलक्ष्म्या कुतुकान्यतानीत्' इति प्राङ्निर्दिष्टमर्थं चिख्यापयिषुरुत्तरग्रन्थं ससगतिकमवतारयति—

अथ भगवन् ! जीवन्मुक्तस्थितिः कीदृशीति सप्रश्रय भरद्वाजेन मुनिना पृष्टो वाल्मीकी रामवसिष्ठसवादमधुरमक्षरामृत ब्रह्मरसमुपबृहयन्नुवाद– ॥१॥

अथेति । अथ रामभद्रादीनाम् अपराख्यविद्याग्रहणानन्तरम् । जीवन्मुक्तस्य जीवत्वे मुक्तस्य स्थितिलक्षणम् । सप्रश्रय सप्रणयम् । प्रश्रयप्रणयौ समावित्यमर । रामवसिष्ठयो य सवाद उक्तिप्रत्युक्तिरूप , तेन मधुर श्लक्ष्णम् । अक्षराणि वर्णा एव अमृतानि पीयूषाणि, अक्षरम अविनश्वरम् अमृत मोक्षश्च, यस्मिन् तम् । ब्रह्मणो वेदस्य रस निर्यासम्, ब्रह्मैव रस त च । उपवृ हयन् पल्लवयन् । उवाद वद्‌व्यक्ताया वाचि ॥१॥

जागतस्य भ्रमस्यास्य जातस्याकाशवर्णवत् ।
अपुनःस्मरण मन्ये ब्रह्मन् ! विस्मरण वरम् ॥२॥

जागतस्येति । हे ब्रह्मन् ! भरद्वाज ! । आकाशवर्णवत् नभोनैल्यवत् । जातस्य अत्यन्तासभावितया कल्पितस्य । अस्य पुरोवर्तिन । जागतस्य जगत्सम्बन्धिन । भ्रमस्य मिथ्यामते । भ्रान्तिर्मिथ्यामतिर्भ्रम इत्यमर । उक्त च परमार्थसारे–

'रज्ज्वा नास्ति भुजङ्गस्त्रास कुरुते च मृत्युपर्यन्तम् ।
भ्रान्तेर्महती शक्तिर्न विवेक्तु शक्यते नाम ॥२८॥'

इति । तन्मूलाविद्यावासनोच्छेदेन अपुन स्मरण यथा भवति तथा । विस्मरण स्मरणाभावम् । वरम् सर्वोत्कृष्टम् । मुक्तिलक्षणम् आत्यन्तिकदृश्योच्छेद , स्वरूप तदुपलक्षितचिन्मात्रावस्थितिश्चेत्यर्थ । मन्ये प्रमाणानुभवाभ्या निश्चितवानस्मि । नीरूपे नभसि नैल्यस्येवात्मनि विजृम्भितस्य दृश्यजातस्यात्यन्त विस्मरणमेव वरीय इति ज्यायान् पन्था । अत्रेद सारम्—

'भिन्नाऽज्ञानग्रन्थिर्गतसंदेहः पराकृतभ्रान्तिः ।
प्रक्षीणपुण्यपापो विग्रहयोगेऽप्यसौ मुक्तः ॥' इति ॥

दृश्यात्यन्ताभावबोधं विना तन्नानुभूयते ।
महीयसापि यत्नेन स्वबोधोऽन्विष्यतामतः ॥३॥

दृश्येति । दृश्यस्य प्रपञ्चस्य, यः अत्यन्ताभावो बाधः, तस्य बोधं ज्ञानम् । तज्जीवन्मुक्तलक्षणं स्वरूपं च । नानुभूयते न साक्षात्क्रियते । अतः अस्मात् । महीयसा महत्तरेण । यत्नेन उपायेन । स्वबोधः आत्मज्ञानम् । अन्विष्यताम् गवेष्यताम् ॥३॥

उपदेशफलितमाह—

दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम् ।
संपन्नं चेत् तदोत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः ॥४॥

दृश्यमिति । चिद्रूपादात्मनो व्यतिरिक्तं दृश्यं देहादि जडजातं नास्तीति बोधेन तत्त्वज्ञानेन मनसः मानसात् । चेद् उक्तलक्षणस्य दृश्यस्य मार्जनं निरसनं संपन्नं घटितम् । तदा परा निर्वाणाख्या निर्वृतिः आत्मसुखम् उत्पन्ना आविर्भूता इत्यर्थः । मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोरिति भावः ॥४॥

अशेषवासनात्यागो मोक्ष इत्यभिधीयते ।
क्षीणाया वासनाया हि चेतो गलति सत्वरम् ॥५॥
एष वासनया कायो ध्रियते भूतपञ्जरः ।
तन्तुनान्तर्निविष्टेन यथा मौक्तिकगुच्छकः ॥६॥

अशेषेति, एषेति च । वासना पुनरुत्पत्तिबीजम् । पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः । चेतो मनः वासनापुञ्जरूपम् । शेषं स्पष्टम् ॥५-६॥

वासनां विभजते—

वासना द्विविधा शुद्धा मलिना चेति गीयते ।
मलिना जन्मनो बीजं शुद्धा जन्मविभञ्जनी ॥७॥

वामनेति । स्पष्टम् ॥७॥

अज्ञानघनसकाशा घनाहकारकर्कशा ।
पुनर्जन्मकरी ज्ञेया वासना मलिना बुधैः ॥८॥

अज्ञानेति । अज्ञानक्षेत्रे एव वासनाबीजानि प्ररोहन्ति हि ॥८॥

संभृष्टबीजसस्थाना पुनर्जन्माङ्क राक्षमा ।
शरीरे वासना शुद्धा भाति चक्रे यथा भ्रमिः ॥९॥

सभृष्टेति । सजाते ज्ञाने कृतकृत्ये चक्रे भ्रमिरिव शरीरे भृष्टबीजकल्पा वासना भवाङ्कुरोत्पादिका न भवति । उक्त च परमार्थसारे–

'अग्न्यभिदग्ध बीज यथा प्ररोहासमर्थतामेति ।
ज्ञानाग्निदग्धमेव कर्म न जन्मप्रद भवति ॥६२॥'

इति ॥९॥

अत एतत् फलति–

ये शुद्धवासना भूयो न जन्मानर्थभाजनम् ।
ज्ञातज्ञेयास्त उच्यन्ते जीवन्मुक्ता महाधियः ॥१०॥

य इति । ज्ञातज्ञेया प्राप्तज्ञेयावसाना इत्यर्थ । तथाच गीतासु–

'यदा ते मोहकलिल बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेद श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥'

इति ॥१०॥

मुक्तिफल दृष्टान्तयन् भरद्वाज नियन्त्रयति–

जीवन्मुक्तिश्रिया रेमे यथा रामो महायशाः ।
तदत्र साध्यते साधो ! सावधानोऽवधारय ॥११॥

जीवन्मुक्तीति । सावधान एकतान सन् अवधारय निश्चिनु । किं तत् ! हे साधो ! यदत्र जीवन्मुक्तिविषयक साध्यते दृष्टान्तानुभवाभ्या व्युत्पाद्यते इति ॥११॥

अथ विद्याविनयसपन्नो रामभद्रः कानिचिद् दिनानि गृहेषु क्रीडया नयन्नेकदा नखकिरणकेसरपरीत पितृपादपद्म समुपसृत्य, तात ! तीर्थानि द्रष्टुमुत्कण्ठित मम चेतो भवदाज्ञा प्रतीक्षत इति विनतकधर प्रार्थयाचक्रे। अनुज्ञातः शास्त्रज्ञैर्विप्रैः स्निग्धैर्वयस्यैश्च सहलक्ष्मणशत्रुघ्नो यथायथ चतुर्दिगन्तश्रितानि तानि तीर्थदेवतायतनपुण्यारण्यानि सभाजयित्वा कोशलानन्दिनी प्रत्ययासीत् ॥१२॥

अथेति । सभाजयित्वा प्रीतिपूर्वक सेवित्वा । सभाज प्रीतिसेवने ॥१२॥

तदन्वनुदिन रघुनन्दन' प्रासादेऽवस्थितः, शरदि कासार इव कार्श्यं श्रयन्, पद्मासनगतः, कपोलतलसलीनपाणिपल्लवः, अरुणोदय-निच्छायमिन्दुबिम्बमिव वदनमुकुल दधत्, चिन्तापरायणस्तूष्णीको व्यापारशून्योऽजनिष्ट ॥१३॥

तदन्विति । कासार पद्माकर । पद्माकरस्तडागोऽस्त्री कासार सरसी सर इत्यमर । पद्मासन नामासनविशेष । यथा–

'वामोरूपरि दक्षिण नियमत सस्थाप्य वाम तथा–
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्या कराभ्या धृतम् ।
अङगुष्ठ हृदये निधाय चिबुक नासाग्रमालोकये–
देतद् व्याधिविकारनाशनकर पद्मासन प्रोच्यते ॥' इति ।

तूष्णीक तूष्णीशील । शीले को मलोपश्च ॥१३॥

अहह ! किमेव कुमारोऽजनीति चिन्तयति परिजने, शोचति मातृमण्डले, विषीदति वयस्यवर्गे, दुर्मना दशरथः सहसा दौवारिके-णागत्य, 'देव ! भवन्त द्रष्टु द्वारमधितिष्ठति स भगवान् विश्वामित्रः' इति सत्वर व्यज्ञपि ॥१४॥

अहहेति । दौवारिक द्वारे नियुक्त । 'तत्र नियुक्त' (पा०सू० ४।४।६६) इति ठक् । विश्वेषा मित्र विश्वामित्र । 'मित्रे चर्षौ' (पा० सू० ६।३।१३०)

इति दीर्घ । विश्वस्य मित्र निरुपाधिप्रेमगोचरतया प्रेयान् । 'आत्मानमेव प्रियमुपासीत' इति श्रुति । 'विश्वत्रयेण यो मैत्री कर्तुमिच्छति धर्मत । विश्वामित्र स –' इति स्मृतिश्च । व्यज्ञपि न्यवेदि ।।१४।।

सोऽपि श्रवणसमकालमेव सिहासनादुत्थाय सामात्यः सम वसिष्ठ-वामदेवाभ्या पदातिरेव त्वरितपद पद्यमानः पिशङ्गजटाजूट ससन्ध्याभ्रमिव शैलकूटम्, उल्लसद्यज्ञोपवीत सवारिप्रपातवेणिकमिव शिखरिणम्, अपरभुवनोपादानकारणशेषभाण्डकमिव कमण्डलु दधान, सुकृतसुधामधुराभ्या वाङ्मनसाभ्या वन्दारूननुगृह्णान महर्षिमालुलोके ।।१५।।

सोऽपीति । पिशङ्गजटाजूट पिङ्गलसटाबन्धम् । पिङ्गपिशङ्गौ कद्रुपिङ्गलौ इति, व्रतिनस्तु जटा सटा इति चामर । अतएव ससन्ध्याभ्रमिव शैलकूटम् । उल्लसद्यज्ञोपवीत धृतयज्ञसूत्रम् । अतएव सवारिप्रपातवेणिकमिव शिखरिणम् । अपरभुवनस्य भुवनान्तरस्य, यत् उपादानकारणशेष निर्माणावशेषद्रव्य, तस्य भाण्डकमिव कमण्डलु दधानम् । सुकृतसुधामधुराभ्या पुण्यपीयूषसोदर्याभ्याम् । वाक् च मनश्च वाङ्मनसे । 'अचतुर–' (पा० सू० ५।४।७७) इति निपातनात् । ताभ्याम् । वन्दारून् अभिवादकान् । 'शृवन्द्योरारु' (पा सू ३।२।१७३) इति ।।१५।।

अवलोक्य दूरादेव भूतलमिलन्मुकुटमणिकोरक प्रणिपत्यैन यथाशास्त्र परिपूज्य च प्रतिनन्दनमधिगत्य प्राञ्जलिरेतदवोचत् ।।१६।।

अवलोक्येति । स्पष्टम् ।।१६।।

भगवन् ! भवता द्विजराजेन पयोधिरिव परमोल्लाससीमानं लम्भितोऽहमिदानी कि व्याहराणि किं वाऽऽचराणि, यदादेशविधिप्रसितो ममान्तरात्माऽऽत्मानमतोऽपि महान्त मन्येत, इति प्रणयपेशल ब्रुवाणे धरणिसुत्रामणि स प्रत्यवोचत ।।१७।।

भगवन्निति । द्विजराजेति श्लिष्टम् । शेष स्पष्टम् ।।१७।।

अयि ! रघुधुरधर !! महावशप्रसूतस्य तवैष व्याहारो वाढमुपपद्यते। यदह दशरात्रेण क्रतुना यियक्षमाणो रक्षोभयक्षुब्धोऽधिज्यधन्वान रामभद्रमेव रक्षितार मन्वानोऽर्थित्वेन त्वा प्राप्तोऽस्मि ॥१८॥

अयीति। वाढमुपपद्यते प्रकाम सगच्छते। दशरात्रेण क्रतुना सोमयाग विशेषेण ॥१८॥

पुत्रस्य तादृशं दौर्मनस्य रणोऽपाटर च विभावयन् नननेति गर्भितेन वाकोवाक्येन गमननिषेधमेव समर्थयन्नपि पार्थिवो महर्षिभ्रूभङ्गभुजङ्गभीतो वसिष्ठबोधितः सलक्ष्मण रामभद्रमाजूहवत ॥१९॥

पुत्रस्येति। वाकोवाक्येन उक्तिप्रत्युक्तिप्रस्तावेन ॥१९॥

सोऽपि च प्ररूढमानसव्यथाविषण्णः शनकैरुपेत्य पुरस्तात् पितर परस्तात् तपोधामनी वसिष्ठविश्वामित्रौ ब्रह्मनिष्ठ वामदेव च प्रणम्य तेन मूर्धन्याघ्रातः सवात्सल्यमालिङ्गितस्ताभ्या तेन च प्रयुक्ताशीरवन्या परिजनाम्तीर्णे ऽशुके न्यविक्षत। तदनु क्रमेण तैरेवमवादि ॥२०॥

सोऽपीति। सोऽपि रामभद्र। तै दशरथवसिष्ठविश्वामित्रवामदेवै ॥२०॥

पुत्र ! प्राप्तविवेकोऽसि कल्याणाना च केतनम्।
जडवज्जीर्णया मत्या मोहायात्मा न दीयताम् ॥२१॥

पुत्रेति। 'पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितर त्रायते सुत। तस्मात् पुत्र इति प्रोक्त स्वयमेव स्वयभुवा॥' इति निरुक्ति। जडवद् अविवेकिवत्। जीर्णया शिथिलया। मोहन मोह। मुह वैचित्त्ये–घञ्। आत्मा जीव ॥२१॥

राजपुत्र ! महाबाहो ! शूरस्त्व विजितास्त्वया।
दुरुच्छेदा दुरारम्भा अपीमे विषयारयः ॥२२॥

राजपुत्रेति। विषया एव अरय ॥२२॥

किंनिष्ठाः के कियन्तस्ते हेतुना केन चानघ ! ।
आधयस्तेऽवलुम्पन्ति मनो गेहमिवाखवः ॥२३॥

किमिति । आधय कि निष्ठा' के चेति स्वरूपप्रश्न । केन हेतुना चेति निमित्तप्रश्न । ते कियन्त इति विभागप्रश्न ॥२३॥

इति पृष्टो मुनीन्द्रेण समाश्वस्य च राघवः ।
यथावद् वक्तुमारेभे लङ्घते को हि सद्वचः ॥२४॥

इतीति । इति विशिष्य मुनीन्द्रेण भगवता विश्वामित्रेण । पृष्ट प्रणुन्न । समाश्वस्य समाश्वास प्राप्य । सता महात्मना, सद् उपादेय च वच । क प्रेक्षावान् । लङ्घते अतिक्रामति ॥२४॥

(१)

सदाचारपरो भूत्वा भ्रमित्वा तीर्थभूष्वहम् ।
भोगनीरसया बुद्ध्या महर्षे ! मृष्टवानिदम् ॥२५॥

सदाचारेति । स्पष्टम् ॥२५॥

किं नामेदं बत सुखं येयं संसारसंगतिः ।
जायन्ते मृतये यत्र म्रियन्ते जातये जनाः ॥२६॥

किमिति । "मृतिबीज भवेज्जन्म, जन्मबीज भवेन्मृति" इति वचनादित्यर्थ ॥२६॥

अयःशङ्कुसमा सर्वे परस्परमसङ्गिनः ।
श्लिष्यन्ते केवलं भावा मनःकल्पनया स्वया ॥२७॥

अय इति । सूच्यादिवत् मिथ सम्बन्धशून्या अपि दृश्या भावा अहमेतेषा मम चैते इति क्रियाकारकभावेन सबध्यन्ते—इत्यर्थ ॥२७॥

मनसा जगदाभोगि मनोऽसदिव दृश्यते ।
मृगतृष्णाम्भसा कष्टं मृगा इव विमोहिताः ॥२८॥

मनसेति । जगद् मनसा आभोगि विषयानुबन्धि । तच्च मन अत्यन्त

तरलत्वाद् असदिव शून्यकल्पमिव दृश्यते अनुभूयते। कष्ट मृगतृष्णाम्भसा मरीचिवारिणा मृगा इव भोगाभिलाषेण विमोहिता वयम् ॥२८॥

नहि केनापि निक्रीता विक्रीता इव यन्त्रिताः।
अहो! सर्वे वय मूढा जानाना अपि शाम्बरीम् ॥२६॥

नहीति। शं वृणोतीति शबरो दैत्यविशेष, तत्सबन्धिनी शाम्बरीम्, मायाम्। उक्तस्यैव प्रपञ्च ॥२६॥

एव निमृशतो बाढं दुरन्तेष्वस्थिरेषु मे ।
भावेष्वरतिरुत्पन्ना पथिकस्य मरुष्विव ॥३०॥

एवमिति। दुरन्तेषु दुष्परिणामेषु । अरति वैरस्यम् । उक्त च पातञ्जले–'परिणामतापसस्कारदु खैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दु खमेव सर्वं विवेकिन' (यो० द० २।१५) इति ॥३०॥

तदिद भगवन्! ब्रूहि किमिद परिणश्यति।
किमिदं जायते भूयः किमिद परिवर्धते ॥३१॥

॥ इति प्रथमः परितापः ॥

तदीति। हे भगवन्! त्रिकालज्ञ! तदिद प्रत्यक्षमुपनत ब्रूहि आख्याहि। किमिद दृश्य सत् परिणश्यति अगोचरता प्राप्नोति। सतो नाशासभवात्। किमिद भूय जायते प्रादुर्भवति। परिणष्ट कथमिव जायेत। किमिद पुन परिवर्धते। परिणष्टस्य पुनरुत्पत्त्यसभवे तद्वर्धनानौचित्यात्। यदि च दृश्यमसत् तर्हि किं परिणश्येत्। स्वरूपेणासतो असत्त्वप्रतिपादन वन्ध्यासूनुध्वसवदनुपपन्नम्। एव च जननवर्धने अपि। यदि यद् दृश्यते तदन्यन् नश्यति–इत्यादि प्रतिपाद्येत तदा सबन्धाभावेन शङ्कैव दुष्यति ॥३१॥

॥ इति प्रथम परिताप ॥

इदानी परितापमेव प्रपञ्चयति सप्तदशभि प्रघट्टकै–

(२)

मोहयन्ती मनोवृत्ति खण्डयन्ती गुणावलिम्।
प्रयच्छन्ती दुःखजालं श्रीरिय कि गवेष्यते ॥३२॥

मोहयन्तीति । श्रयतीति श्री सौभाग्यसपत् । माघोक्त्याऽखिललोक-कान्तेति यावत् ।।३२।।

लक्ष्मीर्विशङ्कटोल्लासकल्लोलानलमाकुलान् ।
जडौघान् विकृतान् धत्ते वर्षास्विव तरङ्गिणी ।।३३।।

लक्ष्मीरिति । विशङ्कट पृथु वृहत्–इत्यमर । जडौघान्–वारिवेगान्, जडवृन्दानि च । 'ओघो वेगे जलस्य च । वृन्दे परम्पराया च द्रुतनृत्योपदेशयो'–इति मेदिनी ।।३३।।

इय श्रीः पदमेकत्र नो निबध्नाति चञ्चला ।
दृग्धेवानियताचारचङ्क्रमा व्यतिराजते ।।३४।।

इयमिति । उपमेयपक्षे–अनियताचारेषु शास्त्रविहिताचरणशून्येषु, उपमानपक्षे–अनियताचार स्खलितन्यास यथा तथा, चङ्क्रमो यस्या सा । व्यतिराजते इति–'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' (पा० सू० १।३।१४) इत्यात्मनेपदमिष्यते ।।३४।।

गुणागुणानपश्यन्ती श्रीरेषा पार्श्वशायिनम् ।
राजप्रकृतिवन्मूढा दुरारूढाऽवलम्बते ।।३५।।

गुणागुणेति । प्रायेण राजानोऽविवेकिनो भवन्ति । उक्त च–आश्रयन्ति समीपस्थ राजानो वनिता लता –इति ।।३५।।

तावच्छीतमृदुस्पर्शो लोकः स्वेषु परेषु वा ।
वात्ययेव हिम यावल्लक्ष्म्या न परुषीभवेत् ।।३६।।

तावदिति । वात्यया वातसमूहेन । 'पाशादिभ्यो य' (पा सू ४।२।४९) इति य ।।३६।।

प्राज्ञाः कृतज्ञाः सख्यज्ञाः पेशलाः सरला अपि ।
पासुमुष्टय`व मणयो लक्ष्म्या हि मलिनान्तराः ।।३७।।

भार इति। एवमादिस्थले शब्दस्य पुनरुक्तिरेव विच्छित्तिमावहति । अतएव–'नैक पद द्वि प्रयोज्य प्रायेण' (वा० सू० ५।१) इति सूत्रयन् वामन प्रायेण इति प्रायुङ्क्त ॥४२॥

पादपा अपि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः ।
स जीवति मनो यस्य मननेन न जीवति ॥४३॥

॥ इति जीवितगर्हा ॥

पादपा इति । पादै मूलै पिबन्ति इति पादपा वृक्षा । 'सुपि स्थ' (पा० सू० ३।२।४) इति क । एषा चेतनत्वे स्मृतिरपि–

"तमसा बहुरूपेण वेष्टिता कर्महेतुना ।
अन्त सज्ञा भवन्त्येते सुखदु ख समन्विता ॥' (मनु १।४६)

इति । मनसो ह्यजीवनत्व निश्चलीभाव । इय मनोवस्था उन्मनीभावपदेनापि परिभाष्यते ॥४३॥

॥ इति जीवितगर्हा ॥

(४)

सिंहिका गुणपक्षेषु कुलिश शमशाखिषु ।
सैंहिकेयो विमर्शेन्दावहङ्कारो भृशायते ॥४४॥

सिंहिकेति । अहमिति करणमहकार । अहमिति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम् । आत्मा हि अहप्रत्ययप्रत्ययी । तत्र शब्दसृष्टिप्रस्तावे– अहमिति प्रत्याहारन्यायेन अकारादिहकारान्तो वर्णसघात । अर्थसृष्टिप्रस्तावे तु– अभिमानोऽहकार इति अन्त करणवृत्तिविशेष । अभृशो भृशो भवतीति भृशायते । 'भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हल ' (पा सू ३।१।१२) इति क्यङ् ॥४४॥

इह कायमहारण्ये क्षुब्धोऽहङ्कारकेसरी ।
जृम्भते विकटाटोप तेनेद जगदश्यते ॥४५॥

इहेति । जभि-जृभी गात्रविनामे । अश्यते ग्रस्यते । अश्नाते· कर्मणि लट् ॥४५॥

निराकुर्वन् घनाकारमहकारमहाकरी ।
आ ! आरोहयते काम दुरारम्भनिषादिनम् ॥४६॥

निरेति । आ ! अहकार एव महाकरी मत्तमातङ्ग । घनाकार निराकुर्वन् पराभवन् । दुष्ट आरम्भ दुरारम्भ, स एव निषादी, तम् । काम यथा स्यात् तथा, आरोहयते ॥४६॥

अहो ! अहकृतेः कृत्या यदल्पेऽपि परिच्छदे ।
आढ्य मन्या नृपमन्याः प्राज्ञमन्याश्च जज्ञिरे ॥४७॥

अहो इति । अहो ! हहो ! । अहकृतेरहकारस्य । कृत्या करणेन चेष्टया अथवा कृत्येति प्रथमान्तम् । यद् यस्मात् कारणाद् अल्पे कतिपयेऽपि । परिच्छदे भोगसामग्रीसत्त्वे । इत्थप्रकृतिका जज्ञिरे–इत्यर्थ ॥४७॥

अहकारेऽम्बुदे शान्ते तृष्णया तडिताऽशमि ।
विच्छिन्ने विटपारोहे व्रतत्यापि विलीयते ॥४८॥

अहमिति । अहकारे अम्बुदे शान्ते सति । तृष्णया तडिता विद्युता अपि अशमि शान्तम् । शम्यतेर्भावे लुङ् । व्यस्तरूपकम् । विटपारोहे विच्छिन्ने सति, तदालम्बिन्या व्रतत्या वल्लर्यापि । विलीयते शम्यते इति प्रसिद्धम् ॥४८॥

अहमित्यस्ति चेद् बुद्धिरहमापदि दुःखितः ।
नास्ति चेत् सुखितस्तस्मादनहकारिता वरम् ॥४९॥

॥ इत्यहकारजुगुप्सा ॥

अहमिति । अनेनाहकाराभावो व्युत्पादित ॥४९॥

॥ इत्यहकारजुगुप्सा ॥

(५)

मनो मननविक्षुब्ध दिशो दश विगाहते ।
मन्दरान्दोलनोद्धूतक्षीरोदाम्बुपृषद् यथा ॥५०॥

मन इति । क्षुब्धस्य मनसो दशदिशावगाहने देवासुरैर्मथ्यमानस्य क्षीरोदस्य क्षीराब्धे पृषतो दृष्टान्त ॥५०॥

भोगदूर्वाङ्कुराकाङ्क्षी श्वभ्रपातमचिन्तयन् ।
इतस्ततो धावमानो न श्राम्यति मनोमृगः ॥५१॥

भोगेति । श्वभ्रपातम् अध पातम् ॥५१॥

क्रोडीकृतदृढग्रन्थितृष्णासूत्रयुजात्मना ।
पक्षिणा जालकेनेव चेतसा परितप्यते ॥५२॥

क्रोडीति । क्रोडीकृत अन्तर्नीत, दृढग्रन्थि विषयग्रहो यया तादृशी, तृष्णैव सूत्रम् तन्तु, तेन युज्यते इति तथाभूतेन । आत्मना बलप्राणभृता चेतनेन । कर्त्रा । पक्षिणा जालबन्धेन इव । चेतसा करणेन परितप्यते क्लिश्यते-इत्यर्थ ॥५२॥

अनल्पकल्पनातल्पे विलीनाश्चित्तवृत्तयः ।
बोध्यमाना न बुध्यन्ते तदत्यर्थं व्यथामहे ॥५३॥

अनल्पेति । अनल्पकल्पनैव तल्पम्, तत्र । तल्पपट्टे शय्या-कलत्रयो इति द्विस्वरे हैम । व्यथामहे-व्यथ भय सचलनयो ॥५३॥

अवान्तरे निपाताय प्रान्तरे भ्रमणाय वा ।
तृणेन पवनेनेव चेतसा बहु चल्यते ॥५४॥

अवान्तरेति । अवान्तरे अकाण्डे । निपाताय प्रशमाय । प्रान्तरे शून्ये । भ्रमणाय गमनाय । पवनेन वायुना, तृणेन इव । चेतसा, बहु अधिकम् । चल्यते भ्रम्यते ॥५४॥

धूमिना मत्सरौघेण ज्वालिनाऽनन्तचिन्तया ।
आश्रयाशेन मनसा प्लुष्यते स्फारमन्तरम् ॥५५॥

धूमिनेति । मत्सरौघेण अन्यशुभद्वेषावेशेन । धूमिना धूमवता । ज्वालिना ज्वालाविष्टेन । आश्रयाशेन अग्निना इव । मनसा अन्तर स्फार बहु प्लुष्यते दह्यते ॥५५॥

यावन्न मनसोऽपैति जगच्चित्र प्रसारितम् ।
तावत्कौतूहलाक्रान्त कथमेतत् प्रशाम्यति ॥५६॥

यावदिति । एतद् मन ॥५६॥

क्षण ध्यान क्षण ज्ञान क्षण नन्दनचिन्तनम् ।
निलक्षण मनो यावद् विषयोर्मिषु सक्षणम् ॥५७॥

क्षणमिति । सक्षण सस्पृहम् । क्षणमिति–'कालाध्वनोरत्यन्तसयोगे' (पा० सू० २।३।५) इति द्वितीया ॥५७॥

क्षणाज्जगन्ति सचर्य न मनागपि तिष्ठति ।
यत्तन्निगृह्यता केनाकाशकासारतृण्मनः ॥५८॥

॥ इति चित्तदौरात्म्यम् ॥

क्षणादिति । आकाश एव कासार, तत्र तृड् तृष्णा यस्य तादृग् मन । अतएव गीतासु–

'चञ्चल हि मन कृष्ण । प्रमाथि बलवद् दृढम् ।'
महाशनो महापाप्मा विध्येनमिह वैरिणम् ॥ (६।३४) इति ॥५८॥

॥ इति चित्तदौरात्म्यम् ॥

(६)

अलमन्तभ्रमायैव तृष्णा विलुलिताशया ।
प्रयाता विषमोल्लासमूर्मिरम्बुनिधाविव ॥५९॥

अलमिति । भ्रमो मिथ्यामति आवर्तश्च । विलुलिताशया आलोडितचित्ता । अन्यत्र आन्दोलितमध्यप्रदेशा ॥५९॥

वाञ्छन्नपि रय रोद्धु वात्ययेव जरत्तृणम् ।
नीतः कलुषया क्वापि तृष्णया चित्तचातकः ॥६०॥

वाञ्छन्निति । रय चापल्य वेग च । रोद्धु वाञ्छन्नपि चित्तमेव चातक पक्षिविशेष । धर्ममेघाख्यरसपानाय मेघरसपानाय चेत्यर्थाल्लभ्यते । वात्यया जरत्तृणमिव कलुषया तृष्णया क्वापि नीत प्रापित ॥६०॥

मरुतीव रजःपुञ्जो वियतीव शरद्घनः ।
उदन्वतीव डिण्डीरस्तृष्णार्ते भ्रमाम्यहो ! ॥६१॥

मरुतीति । डिण्डीरोऽब्धिकफ फेन – इत्यमर ॥६१॥

अश्रान्तजलससगो गाढोर्ध्वाधोगमागमा ।
तृष्णा ग्रन्थिमती स्फारमारघट्टाग्ररज्जुवत् ॥६२॥

अश्रान्तेति । आरघट्ट घटीयन्त्रम् । अरहट इति प्रसिद्धम् ॥६२॥

कुटिला कोमलस्पर्शा निषवैषम्यसश्रया ।
दशतीषदपि स्पृष्टा तृष्णा कृष्णेव सर्पिणी ॥६३॥

कुटिलेति । कुटिलेति चत्वारि विशेषणानि उभयत्र तुल्यानि ॥६३॥

अनावर्जितचित्तापि सर्वमेवानुगच्छति ।
न विन्दति फल किंचित् तृष्णा जीर्णेव कामिनी ॥६४॥

अनावर्जितेति । न आवर्जितम् अनाकलित चित्त यया तथाभूता जीर्णा कामिनीव ॥६४॥

पद करोत्यलङ्घ्येऽपि तृप्तापि फलमीहते ।
चिर तिष्ठति नैकत्र तृष्णा लोलेव वानरी ॥६५॥

पदमिति । पद स्थान चरणन्यास च ॥६५॥

उद्यद्घनरसोत्सेधा परमालोकमुद्रिका ।
मोहकेकिकुलाकीर्णा तृष्णा कादम्बिनीयते ॥६६॥

उद्यदिति । कादम्बिनी मेघमाला–इत्यमर ॥६६॥

आयताऽनन्तसस्थाना विचित्रा विगलद्गुणा ।
आबद्धरागसताना तृष्णा शक्रधनूयते ॥६७॥

आयतेति । अनन्तम् अपरिच्छिन्न, अनन्ते खे च सस्थान यस्या सा । गुण औदार्यादि मौर्वी च । शक्रधनूयते शक्रधनु इन्द्रायुधम्, तद्वदा चरति । शक्रधनुष्शब्दादाचारेऽर्थे क्यङ् । 'कर्तु क्यङ् सलोपश्च' (पा० सू० ३।१।११) इति ॥६७॥

वल्लकी कामगीताना शृङ्खला मोहदन्तिनाम् ।
नटी जगद्रूपकाणा तृष्णा केनाभिभूयताम् ॥६८॥

॥ इति तृष्णाभङ्गः ॥

वल्लकीति । जगन्त्येव रूपकाणि । नाटकादिदृश्यकाव्यविशेषा ॥६८॥

॥ इति तृष्णाभङ्ग ॥

(७)

सुखराकाप्रभोद्भासि क्षणमानन्दतुन्दिलम् ।
क्षण दुःखकुहूध्वान्तच्छन्न क्लिष्टमिद वपु. ॥६९॥

सुखेति । सुखमेव राका पूर्णचन्द्रा रात्रि । पूर्णे राका निशाकरे—इत्यमर । दु खमेव कुहू शून्यचन्द्रा रात्रि । सा नष्टेन्दुकला कुहू—इत्यमर । क्षणमित्य त्यन्तसयोगे द्वितीया ॥६९॥

बद्धास्था ये शरीरेषु सक्ताः ससृतिभूतिषु ।
ते मोहमदिरोन्मत्ताः किमुच्यन्ते धिगन्तरा ॥७०॥

बद्धास्थेति । आस्था आलम्बनम् । आस्था त्वालम्बनास्थानयत्नापेक्षासु योषिति—इति मेदिनी । ससृति ससार ॥७०॥

तडित्सु शरदभ्रेषु गन्धर्वनगरेषु च ।
स्थिरता निश्चिता येन तेन विश्वस्यतां तनौ ॥७१॥

तडिदिति । गन्धर्वनगर राजनगराकार नीलपीतादिमेघरचना-विशेष ॥७१॥

इय हि चेतना दीना देहान्तरविवर्तिना ।
मिथ्याज्ञानपिशाचेन ग्रस्यमाना विमुह्यति ॥७२॥

इयमिति । दीना वराकी ॥७२॥

न किंचिदपि दृश्येऽस्मिन् दृश्यते सत्यवत्तया ।
दग्धात्मना शरीरेण जनता विप्रलभ्यते ॥७३॥

नेति । सत्यवत्तया परमार्थतया । दग्धात्मना चेतनहतकेनेत्यर्थ ॥७३॥

ऊर्ध्वाधस्तिर्यगारूढप्रवालावलिसंवृतः ।
प्रकाण्डशाखाविटपप्राग्भारविभवोच्छ्रितः ॥७४॥
आमूलचूडपर्याप्तिपत्त्रपुष्पफलोर्जितः ।
तृष्णाशीविषसूत्कारः कोपवायसवाशितः ॥७५॥
द्रोहगृध्रगरुत्क्षोभोऽहंकारोल्लासलालितः ।
कस्यात्मीयः परो वापि कायवृक्षोऽयमुद्गतः ॥७६॥ (तिलकम्)

॥ इति कायजुगुप्सा ॥

ऊर्ध्वेति । सर्वदिक्कया प्रवालसंतत्या वेष्टित इत्यर्थ ।

प्रकाण्डेति । तत्तदवयवसमृद्ध्या अभ्रंकष इत्यर्थ ।

आमूलेति । आमूलाग्रं तत्तद्भोग्यविशेषेण प्राणित इत्यर्थ ।

तृष्णेति । सूत्कार फूत्कार । वाशित शब्दित । तिरश्चां वाशित रुतम्—इत्यमर ।

द्रोहेति । गरुत्क्षोभ पक्षविक्षेप । स्वकीय परकीयो वा । उभयथाप्य-नास्थेय इति भाव । तिलक त्रिभि संबद्ध विशेषकमित्यर्थ ॥७४–७६॥

॥ इति कायजुगुप्सा ॥

(८)

लब्ध्वापि तरलाकारे कार्यभारतरङ्गिणि ।
संसारसागरे जन्म, बाल्यं क्लेशाय केवलम् ॥७७॥

लब्ध्वेति । क्लिश्नन्ति इति क्लेशा । तथा च पतञ्जलि –'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा पञ्च क्लेशा' (यो० द० २।३) इति ॥७७॥

अशक्तिरापदस्तृष्णा मूकता मूढबुद्धिता ।
गृध्नुता लोलता दैन्य बाल्ये वल्गन्त्यशृङ्खलम् ॥७८॥

अशक्तीति । गृध्नु गर्धनशील । गृधु अभिकाङ्क्षायाम् । 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपे क्नु' (पा० सू० ३।२।१४०) इति क्नु । अशृङ्खल निरर्गलमिति क्रियाविशेषणम् ॥७८॥

रोषरोदनरौद्रीषु दैन्यदीप्तदुराधिषु ।
दशासु बन्धन बाल्यमालानमिव हस्तिनः ॥७९॥

रोषेति । रौद्र्य उग्रा । आलान हस्तिबन्धनम् । आलान करिणा बन्धस्तम्भे रज्जौ च न स्त्रियाम्–इति मेदिनी ॥७९॥

प्रतिबिम्बघनाज्ञान नानासकल्पपेलवम् ।
बाल्यमालूनसशीर्णमनः कस्य सुखावहम् ॥८०॥

प्रतिबिम्बेति । प्रतिबिम्बवद् घन सान्द्रम् अज्ञान यस्मिस्तत् । नानासकल्पै पेलवम् कोमलम् । तत्तत्सकल्पितविषयालाभाद् आलूनवत् सर्वतश्छिन्नवत् सशीर्णवद् दु खितवन् मनो यस्मिस्तत् ॥८०॥

सर्वेषामेव सत्त्वाना सर्वावस्थाभ्य एव हि ।
विशिष्य शैशवे चेतश्चाञ्चल्याधिक्यमृच्छति ॥८१॥

सर्वेषामिति । प्रत्यक्षमनुभूतमेतत् ॥८१॥

मनः प्रकृत्यैव चल बाल्यं च चलता वरम् ।
भ्रात्रोरिव तयोः श्लेषश्चापलायालमेधते ॥८२॥

मन इति । पूर्वस्यैव प्रपञ्चनमेतत् ॥८२॥

विकल्पकल्पितारम्भे दुर्विलासे दुराशये ।
आः कष्ट मोहमाधत्ते बालो बलवदापतन् ॥८३॥

॥ इति बाल्यजुगुप्सा ॥

विकल्पेति । बलवदित्यव्ययम् । बलवत्सुष्ठु किमुत स्वत्यतीव च निर्भरे-इत्यमर ॥८३॥

॥ इति बाल्यजुगुप्सा ॥

(६)

बाल्याक्रीडमतिक्रम्य प्रसरत्कामकेलयः ।
आरोहन्ति निपाताय यौवन सालशृङ्गवत् ॥८४॥

बाल्येति । बाल्यमेव आक्रीड उद्यानविशेष , तम् । सालशृङ्गवत् प्राकार शिखरवत् ॥८४॥

चिन्ताना चलवृत्तीना वनितानामिवावृतीः ।
विगाहते भ्रमच्चेतो भ्रमरो व्रततीरिव ॥८५॥

चिन्तेति । भ्रमत्, चेत –इति पदद्वयम् । विगाहते आलोडयति ॥८५॥

नानारसमयी चित्रवृत्तजम्बालपिच्छिला ।
भीमायौवनभूर्येन तीर्णा, धीरः स दुर्लभः ॥८६॥

नानारसेति । भगवन्त रामभद्रमपहाय नान्यमुपलभामहे–इति नातिश योक्ति ॥८६॥

अहो ! प्रतिपद पातः प्रतिपातमधोगतिः ।
प्रत्यधोगति भिन्नार्तिरुत्कटे यौवनभ्रमे ॥८७॥

अहो इति । नातिच्छन्नेय सारालकारोक्ति ॥८७॥

यदा हि परमा कोटिमाटङ्कयति यौवनम् ।
तदा स्मरशरक्षुब्ध चित्त क्रामति यौवतम् ॥८८॥

यदेति । यौवत युवतीना समूहम् ॥८८॥

असत्यं सत्यसकाशमचिराद्विप्रलम्भदम् ।
स्वप्नाङ्गनासङ्गसम तारुण्य दुरतिक्रमम् ॥८९॥

॥ इति यौवनगर्हा ॥

असत्येति । असत्यम् अचिरस्थायित्वाद् विद्युद्विलाससदृशमिति भाव । अचिरात् सद्य । विप्रलम्भद वियोगजनकम् ॥८६॥

॥ इति यौवनगर्हा ॥

(१०)

सविकारा हृद्यगन्धा सरसोल्लासभूमिका ।
मदिरा मदिराक्षी च केवल व्यक्तितः पृथक् ॥९०॥

सविकारेति । मदिरा प्रसिद्धा । मदिर पक्षिविशेष, तद्वद् अक्षिणी यस्या सा मदिराक्षी । मीनाक्षीवद् व्युत्पाद्यते । एषा द्वयी, केवल व्यक्तित व्यक्ते गुणविशेषाश्रयमूर्ते । आकारादिति यावत् । पृथक् पृथग्भूता । मादनगुणेन तु एकैवेति तात्पर्यम् ॥९०॥

परिष्कृतानेकरागैर्वल्लकीव स्वरोद्गमैः ।
कॉस्कान्न चित्रयत्येषा तरुणान् हरिणानिव ॥९१॥

परिष्कृतेति । रागोऽनुराग, गीतक च । स्वर सलेशभाषणाभिव्यक्त सप्तसख्यागश्च । चित्रवत् आश्चर्यवत् करोतीति चित्रयति । मोहयतीति भाव ॥९१॥

किरातेनेव कामेन वागुरा इव योषितः ।
कुरङ्गानिव समुग्धानात्मसात्कर्तुमातताः ॥९२॥

किरातेनेति । वागुरा मृगबन्धनी-इत्यमर । आत्मसात् स्वाधीनान् ॥९२॥

ललनाविपुलालाने मनोमत्तमतङ्गजः ।
रतिशृङ्खलया बद्धो मुहुर्माद्यन् विघूर्णते ॥९३॥

ललनेति । विघूर्णते कर्तव्याकर्तव्य न पर्यालोचयतीत्यर्थ ॥९३॥

कायपल्वलमत्स्याना स्वान्तकर्दमचारिणाम् ।
पुसा दुर्वासनारज्जुर्योषा बडिशपिण्डिका ॥९४॥

कायेति । बडिश मत्स्यवेधनकण्टक, तत्रत्या पिण्डिका ॥६४॥

मुख गुहा स्तनौ गुल्मौ नितम्बो वालुकोच्चयः ।
नारी मरुस्थली यत्र म्रियन्ते कामुकाः मृगाः ॥६५॥

॥ इति स्त्रीजुगुप्सा ॥

मुखमिति । अहो ! विषयरसपानाज् ज्ञानरसपानस्येयती भिदा इति तात्पर्यम् ॥६५॥

॥ इति स्त्रीजुगुप्सा ॥

(११)

अपर्याप्त हि बालत्वं बलात्पिबति यौवनम् ।
यौवन च जरा पश्चादहो ! कर्कशता मिथः ॥६६॥

अपर्याप्तमिति । पिबति ग्रसति । अहो ! बाल्य तारुण्य वार्द्धकानामवस्था-विशेषाणा परस्पर कार्कश्यम् ॥६६॥

अनायासकदर्थिन्या जरया जीर्णता गते ।
सपत्न्येवाहता योषिन्मतिः क्वापि पलायते ॥६७॥

अनायासेति । अन्यावस्था तु आयासेन कदर्थिनी । इय जरा तावदना-यासेनेति । कदर्थनम् आत्मन्यवज्ञा । उपासकाना त्वेव न भवतीत्यपि द्रष्टव्यम् । आहता अभिभूता ॥६७॥

शीर्णाया तनुवल्लर्या गतमिन्द्रियगुच्छकैः ।
चित्रमाशारसा तृष्णा भावानभि युवायते ॥६८॥

शीर्णायामिति । गतमिति भावे क्त । भावानिति–'अभिरभागे' (पा० सू० १।४।९१) इति कर्मप्रवचनीयसज्ञाया–'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (पा० सू० २।३।८) इति द्वितीया । युवायते–युवतिरिवाचरतीति क्यङ् ॥६८॥

जाग्रज्जरासुधादीप्त वपुरन्तःपुरान्तरम् ।
अशक्तिरार्तिरापच्च सुखमध्यासतेऽङ्गनाः ॥६९॥

जाग्रदिति । जाग्रती जरैव सुधा लेपनद्रव्य, तया दीप्त धवलम् । वपुरेव अन्त पुरम् अन्तर्भवनम्, तदन्तरम् । अशक्त्यादय अङ्गना । सुखम् अकुतोभयम् । अध्यासते–'अधिशीङ्स्थासा कर्म' (पा० सू० १।४।४६) इत्याधारस्य कर्मसज्ञा ॥९९॥

दृष्ट्वैवोत्कण्ठितेवाशु प्रगृह्य शिरसि क्षणम् ।
प्रलुनाति जरा काय कामिनी कैरव यथा ॥१००॥

दृष्ट्वेति । उत्कण्ठिता उत्का समीपस्था च । शिरसि मूर्धनि अग्रभागे च । कैरव चन्द्रकिरणविकासि कमलम् ॥१००॥

दुष्प्रेक्ष्य दुरवस्थान दुराधिव्याधिबान्धवम् ।
अभ्यर्णमरणोद्गार वार्धक केन गृध्यते ॥१०१॥

॥ इति जराजुगुप्सा ॥

दुष्प्रेक्ष्यमिति । गृध्यते अभिकाङ्क्ष्यते ॥१०१॥

॥ इति जराजुगुप्सा ॥

(१२)

विकल्पकल्पनानल्पजल्पितैरल्पबुद्धिभिः ।
भेदैरुद्धुरता नीतः ससारकुहरे भ्रमः ॥१०२॥

विकल्पेति । ममेद भोग्यम्, अहमस्य भोक्ता, इमानि च तत्साधनानि, अनेन इदम् इत्थ सपाद्य भोक्ष्ये, इदमद्य लब्धम्, इद लप्स्ये, इत्येवमादिभि विकल्पकल्पनै अनल्पानि जल्पितानि येषा तै । अल्पबुद्धिभि मन्दै कर्तृभि । भेदै शत्रुमित्रोदासीनादिभि । ससारकुहरे ब्रह्माण्डान्तरे भ्रम उद्धुरता दुरुच्छेदता नीत ॥१०२॥

सता कथमिवास्थात्र जायते जालपञ्जरे ।
शिशूनामेव संतुष्टिः फले मुकुरबिम्बिते ॥१०३॥

सतामिति । सता विवेकिनाम् । अत्र जालपञ्जरे इन्द्रजालकल्पे आयतने । फले आम्रादिरूपे । मुकुरबिम्बिते दर्पणादौ प्रतिफलिते ॥१०३॥

इहापि भासते येषा सुभगा सुखभावना ।
तामप्याखुरिव ग्रन्थिं कालः कृन्तति सर्वतः ॥१०४॥

इहेति । इहापि एवदुर्विलसितेऽपि ॥१०४॥

कालो जगन्ति सामान्याददन्नपि जिघत्सुकः ।
दृश्यसत्तामिमां सर्वां कवलीकर्तुमुद्यतः ॥१०५॥

कालेति । सामान्यात् सर्वसाधारण्यात् । जिघत्सु अत्तुमिच्छु जिघत्सुरशनायित -इत्यमर ॥१०५॥

विरञ्चिमूलब्रह्माण्डबृहद्देवफलिद्रुमम् ।
ब्रह्मकाननमाभोगि यः पराक्रम्य चेष्टते ॥१०६॥

विरञ्चीति । य काल । विरञ्चि अपञ्चीकृतभूतात्मा मूल यस्य तादृग्, ब्रह्माण्डमेव बृहन् देव दैवतवर्ग, फलप्रदतया फली फलवान्, द्रुम वृक्ष, यस्मिंस्तत् । 'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' (पा० सू० १।२।५८) इति विकल्पेनैकवचनम् । ब्रह्मैव कानन, दुर्गमत्वान्महारण्यम् । आभोगि आभोगवत् । पराक्रम्य परिभूय । चेष्टते जृम्भते ॥१०६॥

जगज्जीर्णकुटीकीर्णान् निदधात्युग्रकोटरे ।
यः क्रमाद् गुणवल्लोकमणीन् मृत्युसमुद्गके ॥१०७॥

जगदिति । य काल । जगदेव जीर्णकुटी तत्र कीर्णान् विक्षिप्तान् । गुणवन्तो लोका एव मणय, तान् । उग्रकोटरे भीषणकन्दरे । मृत्युरेव समुद्गक सपुटक, तत्र । क्रमाद्-अद्य श्व परश्व -इत्यादि क्रमेण । निदधाति नि-क्षिपति ॥१०७॥

गुणैरापूर्यते यैव लोकरत्नावली भृशम् ।
भूषार्थमिव सा कण्ठे कृतान्प्येतेन पात्यते ॥१०८॥

गुणैरिति । गुणै शौर्योदार्यादिभि तन्तुभिश्च । लोका एव रत्नानि, लोका रत्नानीव, तेषाम् आवली ॥१०८॥

चारयश्चारहस्तेन कोणेष्वादित्यदीपकम् ।
कालो लोकालये कुत्र किमस्तीति निलोकते ॥१०६॥

चारयन्निति । चार चारणम् । गतिरित्यर्थ । स एव हस्त । कोणेषु अन्तरालेषु ॥१०६॥

भज्यते नावभग्नोऽपि दग्धोऽपि नहि दह्यते ।
दृश्यते नापि दृश्योऽपि कालो मायाविदेशिकः ॥११०॥

॥ इति कालापवादः ॥

भज्यतइति । मायावी मायी । देशिक उपदेष्टा । तत कर्मधारय ॥११०॥

॥ इति कालापवाद ॥

(१३)

अस्योड्डामरचेष्टस्य दिष्टस्य क्रूरकर्मणा ।
अजातमिव भूत च भावि चेद चराचरम् ॥१११॥

अस्येति । उड्डामरा उद्भटा, चेष्टा लीला, यस्य स तस्य । दिष्टस्य कालस्य ॥१११॥

अस्य विश्वंभरा पात्र पारावाराः परिस्रुताः ।
अवदशाः ककुब्नागा ब्रह्माण्ड पानमण्डपम् ॥११२॥

॥ इति कालविलासः ॥

अस्येति । परिस्रुता मदिरा । अवदशा पानरुचिजनकभक्षणानि । ककुब्नागा दिग्गजा ॥११२॥

॥ इति कालविलास ॥

(१४)

विष्वग् विश्वेषु निदधत्काल स्वस्य करालताम् ।
कृतान्तरूपता धत्ते शैलूष इव भूमिकाम् ॥११३॥

विष्वगिति । विष्वक् समन्तत । भूमिकाम् रूपान्तरम् । भूमिका रचनाया स्यान्मूर्त्यन्तरपरिग्रहे—इति विश्व ॥११३॥

नृत्यन्नितान्तरागीव नियत्या प्रियया समम् ।
लक्ष्यश्चित्रपद क्रामन् भावे भावे रस वहन् ॥११४॥

नृत्यन्निति । नियति कृतस्य कर्मण फलावश्यभावनियम । चित्रपद विचित्रचरणन्यासम् इति क्रियाविशेषणम् । भाव पदार्थ स्थायिभावश्च । लक्ष्यो दृश्य ॥११४॥

अन्तरेण क्रियामस्य स्वपरिस्पन्दलक्ष्मण ।
नान्यदालक्ष्यते रूप न कर्म न समीहितम् ॥११५॥

अन्तरेणेति । अन्तरेण विना । स्वपरिस्पन्द एव लक्ष्म चिह्न यस्य स तस्य ॥११५॥

तारकासुमनोनद्धव्योमकुन्तलपल्लकम् ।
दीप्तिमासलमार्तण्डचन्द्रमण्डलकुण्डलम् ॥११६॥
लोकालोकाचलश्रेणिवाचालक्षुद्रघण्टिकम् ।
इतस्ततो रणद्भीमविद्युद्वलयकङ्कणम् ॥११७॥
अनिलान्दोलनोद्धूतपुष्करावर्तचेलकम् ।
क्षुभ्यत्क्षोणिघनाघातभग्नशेषफणागणम् ॥११८॥
तदद्दोऽन्योन्यसघर्षोद्रेकदीर्णदिगन्तरम् ।
सनर्तनर्तनारब्ध दिव्यस्त्रीपु सताण्डवम् ॥११९॥ (चक्कलकम्)

॥ इति कृतान्तविलसितम् ॥

तारकेत्यादि । तारका एव सुमनस पुष्पाणि, व्योम एव कुन्तलपल्लक चिकुरबन्ध । मार्तण्ड चन्द्रमण्डले एव कुण्डले । अचलश्रेणि एव क्षुद्रघण्टिका । विद्युद्वलयमेव कङ्कण करभूषणम् । पुष्करावर्ताख्यमेघ एव चेलकम् । क्षुभ्यन्त्या क्षोण्या घनाघातेन भग्न शेषफणागण यस्मिंस्तत् । तदद् स्त्रीपु स-

लक्षण ताण्डवम् । अन्योन्यस्य य सजर्पोद्रेक अभिभवेच्छातिशय, तेन दीर्णानि भिन्नानि दिगन्तराणि यस्मिन् तत् । सवर्त-वर्तने प्रलयक्षणे आरब्धम् । दिव्ययो स्त्रीपु सयो —'अचतुर—' (पा० सू० ५।४।७७) इति साधु । ताण्डव नृत्यविशेष । चक्कलकम् कालापकम् चतुर्भि सबद्धमित्यर्थ । ॥११६-११९॥

॥ इति कृतान्तविलसितम् ॥

(१५)

एव कालादिवृत्तान्तैर्दुरन्तै कीलिता इव ।
कथ ससारचक्रेऽस्मिन्नाश्वासं तात! दध्महे ॥१२०॥

एवमिति । कीलिता यन्त्रिता । तातेति विशिष्य विश्वामित्र प्रति सबोधनम् ॥१२०॥

कालः कवलनाकल्यो दैव दारुणचेष्टितम् ।
कृतान्तः कर्कशस्वान्तो वराकी जगती हता ॥१२१॥

कालेति । कवलनाकल्य ग्रासकुशल । जगती भुवनम् । जगती भुवने क्षमाया छन्दोभेदे जनेऽपि च—इति मेदिनी ॥१२१॥

आयुरत्यन्ततरल मृत्युरेकान्तनिष्ठुरः ।
तारुण्य तरुणीगीर्णं बाल्य बालिशतापदम् ॥१२२॥

आयुरिति । बालिशतापदम् मौर्ख्यस्थानम् । बालिशश्च शिशौ मूर्खे, भूकेश शैवले वटे—इति मेदिनी ॥१२२॥

लोकोऽभिलषितालोको बन्धवः स्नेहसिन्धवः ।
भोगा जगन्महारोगास्तृष्णाश्च मृगतृष्णिकाः ॥१२३॥

लोकेति । अभिलषितालोक इष्टदर्शन । आलोकस्तु पुमान् द्योते दर्शने वन्दिभाषणे—इति मेदिनी ॥१२३॥

द्विषन्त इन्द्रियाण्याशु सत्य मिथ्यातिरस्कृतम् ।
रजोगुणहता दृष्टिस्तुष्टिर्नित्यमवस्तुनि ॥१२४॥

द्विषन्त इति । द्विषन्त अमित्रा । द्विष अप्रीतौ । 'द्विषोऽमित्रे' (पा० सू० ३।२।१३१) इति शतृ । रज गुणेषु मध्यम पांसुश्च । अवस्तुनि प्रतिषिद्धे पदार्थे ॥१२४॥

ज्वलतीव जरा देहे वहतीव स्पृहा हृदि ।
मनो विलुठतीवान्तर्मुदिता करुणापि नो ॥१२५॥

ज्वलतीति । ज्वलति त्वरते । वहति एधते । विलुठति प्रक्रमते । मुदिता करुणापि वृत्ति । नोदेतीति तात्पर्यम् । 'मैत्री करुणा मुदितो-पेक्षाणा सुख दु ख पुण्या-पुण्यविषयाणा भावनातश्चित्तप्रसादनम्' (यो० द० १।३३) इति योग-सूत्रम् ॥१२५॥

सुलभो दुर्जनाश्लेषो दुर्लभः सज्जनाश्रयः ।
अहङ्कारकरातोद्यं नृत्यते ह्यभ्यसूयया ॥१२६॥

सुलभ इति । अहङ्कारकरे आतोद्य वादित्र यस्मिन् कर्मणि । नृत्यते इति भावे लट् ॥१२६॥

अनुरक्ताङ्गनालोललोचनालोकरञ्जितम् ।
मानस निशदीकर्तुं विदुषापि न शक्यते ॥१२७॥

अनुरक्तेति । वैषयिको रागो दुष्परिहर इति तात्पर्यम् ॥१२७॥

परोपकारकारिण्या परार्तिपरितप्तया ।
स्वात्मशीतलया बुद्ध्या बुद्धो विद्वस्यते परम् ॥१२८॥

परोपकारेति । बुद्ध इति 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' (पा० सू० ३।२।१८८) इति वर्तमाने क्त । विद्वानिवाचरतीति विद्वस्यते । क्यङ् ॥१२८॥

भूयो भूयोऽपि भूयासो दुराशापाशसदिताः ।
दोषगुल्मकसारङ्गा विशीर्णा जन्मजङ्गले ॥१२९॥

भूय इति । भूय इति पुनरर्थेऽव्ययम् । जङ्गल काननम् ॥१२९॥

अद्योत्सवोऽयमृतुरेष तथेह यात्रा
ते बान्धवाः सुखमिदं सविशेषभोगम् ।
इत्थं वृथैव कलयन् सुविकल्पजाल-
मालोलकोमलमतिर्गलति प्रकामम् ॥१३०॥

॥ इति दैवदुर्विलासः ॥

अद्येति । आलोला दोलायमाना, कोमला सुकुमारा । विवेकाक्षमेति यावत् मतिर्यस्य तादृक् । गलति विशीर्यते ॥१३०॥

॥ इति दैवदुर्विलासः ॥

(१६)

पर्यायसंक्रान्तरवीन्दुरत्न-
दीपप्रकाशोऽपि जगद्विलासे ।
न लक्ष्यते क्वापि तदर्थजातं
येनातिविश्रान्तिमुपैति चेतः ॥१३१॥

पर्यायेति । पर्यायः अहोरात्रविभागः । रवीन्दू एव रत्नदीपौ । अर्थो वस्तुविशेषः परमार्थतत्त्वं च ॥१३१॥

बाल्ये गते कल्पितकेलिलोले
मनोमृगे दारदरीषु जीर्णे ।
काये जराजर्जरतां प्रयाते
विदूयते केवलमेव मन्दः ॥१३२॥

बाल्य इति । मन्दः इति कर्त्तव्यताविचारमूढः ॥१३२॥

जरातुषारव्यथितां शरीर-
सरोजिनीं वीतरसामवेत्य ।
विनिःसृते जीवितचञ्चरीके
जनस्य संसारसरोऽवसन्नम् ॥१३३॥

जरेति। इदम् इतिकर्तव्यताविचारमौढ्यस्य फल दर्शितम् ॥१३३॥

तृष्णासरित् सान्द्रतरप्रवाह-
पूरस्यदग्रस्तपदार्थपूगा ।
तटस्थसतोषतरून् समन्तात्
समूलकाष कषतीव रुष्टा ॥१३४॥

तृष्णेति। पूरस्य स्यदो वेग । पूग वृन्दम्। पूगस्तु क्रमुके वृन्दे -इति मेदिनी। समूलकाष कषति-समूल कषतीत्यर्थ । 'निमूलसमूलयो कष' (पा० सू० ३।४।३४) इति णमुलि-'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोग' (पा० सू० ३।४।४६) इति ॥१३४॥

तनूतरिस्तैजसतन्तुमूता
जगत्पयोधौ तरल तरन्ती ।
उरुक्रमैरिन्द्रियनक्रवर्गै-
रभ्याहता हन्त ! निमज्जतीव ॥१३५॥

तनूतरीति। तनू काय । कायो देह क्लीबपु सो स्त्रिया मूर्तिस्तनुस्तनू इत्यमर । तैजसतन्तुमूता रजोगुणबद्धा। मूङ् बन्धने-क्त । उरुक्रमै विपुल-क्रमणै ॥१३५॥

दुःखेषु दूरास्तविषादमोहाः
सुखेष्वनुत्सिक्तमनोभिरामा ।
सुदुर्लभा सप्रति सुन्दरीभि-
रनाहतान्तःकरणा महान्तः ॥१३६॥

दुःखेष्विति। अनुत्सिक्तम् अगर्वितम् ॥१३६॥

निशद्विषादा विषमामवस्था—
मुपाश्रितो दग्धवयोविरामे ।

भावान् स्मरन् स्वानिह धर्मरिक्तान्
जीवन्मृतो म्लायति गेहकोणे ॥१३७॥

विशदिति । दग्धवयसः यौवनहतकस्य विरामे अवसाने । भावान् अनुष्ठितान् इत्यर्थः । अन्यत्राप्युक्तम्—

'उत्क्रम्य विश्वतोऽङ्गात् तद्भागैकतनुनिष्ठिताहन्तः ।
कण्ठलुठत्प्राण इव व्यक्तः जीवन्मृतो लोकः ॥'

इति । अप्रयोजकतया परिवारोपेक्षणे वर्णितदशा सुप्रसिद्धैवेति भावः ॥१३७॥

समूलघातं निहते सपत्ने
पत्नीकृताया च नयेन लक्ष्म्याम् ।
भुङ्क्ते हि सौख्यानि पराणि यावत्
तावन्मृतिर्मार्गति कामिनीव ॥१३८॥

समूलेति । समूलघातं समूलमित्यर्थः । 'समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः' (पा० सू० ३।४।३६) इति णमुल् । ऐहिकसुखसाधनोपार्जनप्रवणस्य आमुष्मिकावसरो नायातीति भावः ॥१३८॥

प्रियासुभिः कालमुखं क्रियन्ते
जनैडकास्ते हतकर्मबद्धाः ।
यैः पीनतामेव बलादुपेत्य
शरीरबाधेन न ते जयन्ति ॥१३९॥

प्रियासुभिरिति । प्रियासुभिः प्रियप्राणैः, यैः कर्मभिः, शरीरबाधेन शरीरपीडया, बलाद् हठात्, पीनताम् एव पुष्टिम् एव, उपेत्य स्वीकृत्य, ते जनाः, एडकाः मेषा इव, विवेकशून्यत्वात् । 'उपमानानि सामान्यवचनैः' (पा० सू० २।१।५५) इति समासः । जनैडकाः ऐहिकामुष्मिकफलकाङ्क्षिणः । कालमुखं कालग्रासं यथा स्यात् तथा क्रियन्ते । कर्मिणो निष्पाद्यन्ते इत्यर्थः । ते हतेन क्षयिणा । नश्वरफलघटकेनेत्यर्थः । कर्मणा व्यापारेण बद्धाः नियन्त्रिताः सन्तः न जयन्ति—जीवन्मुक्त्यादिमार्गस्खलितत्वात् कृतकृत्या न भवन्तीति तात्पर्यम् ।

'अविद्यायामन्तरे वर्तमाना—' (मुण्ड० उ० १।२।८) इति। गीतासु च— 'कामात्मान स्वर्गरता —' (२।४३) इति च। प्राञ्चस्तु—नरमेषा इत्यादि बहु व्याचक्षते ॥१३९॥

इतस्ततश्चोपनता मुधैव

समानसङ्केतनिबद्धभावा ।

मेलामसासङ्गसमा जनाना

कलत्रमित्रव्यवहारखेला ॥१४०॥

इतस्तत इति। इतस्तत इत्यव्यय यत्रतत्रार्थे। मेला-मेलके समौ-इति मेदिनी। क्रीडा खेला च कूर्दनम्-इत्यमर ॥१४०॥

प्रदीपहेतिष्विव भूरिभुक्त—

दशास्वतिस्नेहनिबन्धनीषु ।

ससारदोलासु चलाचलासु

न ज्ञायते मर्म विमोहिनीषु ॥१४१॥

प्रदीपेति। अर्चिर्हेति शिखा स्त्रियाम्-इत्यमर। दशावस्था दीपवर्त्यो - इति मेदिनी। स्नेह स्यात् पुसि तैलादिरसद्रव्ये च सौहृदे-इति मेदिनी ॥१४१॥

ससारसरम्भकुचक्रिकेय

प्रावृट्पयोबुद्बुदभङ्गुरापि।

असावधानस्य विचारणासु

चिरस्थिरप्रत्ययमातनोति ॥१४२॥

ससारेति। चिरस्थिरप्रत्यय स्थायिज्ञानम्। असावधानस्य चलचित्तस्य ॥१४२॥

मनोहरस्याप्यतिदोषवृत्ते—

रन्तर्विनाशाय समुत्थितस्य ।

विषद्रुमस्येव जनस्य सङ्गा—

दासाद्यते सप्रति मूर्छनैव ॥१४३॥

मनोहरेति । विषद्रुम कारस्करो वृक्ष । मूर्छना मूर्छा ॥१४३॥

कास्ता दृशो यासु न सन्ति दोषाः
कास्ता दिशो यासु न दुःखदाहः ।
कास्ताः प्रजा यासु न भङ्गुरत्व
कास्ताः क्रिया यासु न नाम माया ॥१४४॥

कास्ता इति । दृश दृष्टय । वैषयिकज्ञानानीत्यर्थ । दु खदाह सुख सचाराभाव । भङ्गुरत्व नश्वरभाव । माया अनाश्वास ॥१४४॥

सर्वत्र पाषाणमया महीध्राः
मृदा मही दारुभिरेव वृक्षाः ।
मांसैर्जनाः पौरुषबद्धभावा
नापूर्वमस्तीह विकारशून्यम् ॥१४५॥

सर्वत्रेति । प्रकृत्यादिभ्य उपसख्यानम् । इत्यभेदे तृतीया । पौरुषबद्ध भावा पुरुषार्थाहकृता । किमपि विकारशून्यम् अपूर्वं दृश्य नास्ति । वाचारम्भण विकारो नामधेयमिति तात्पर्यम् ॥१४५॥

जनः कामारूढो विविधकुकलाकल्पनपर-
स्ततोऽन्यो दुष्प्रापो जगति सुजनोऽनर्घचरितः ।
क्रिया क्लेशावेशा विधुरविधुरा लौकिककथा
न जाने नेतव्या कथमिव दशा जीवनमयी ॥१४६॥

॥ इति निःश्रेयसविरोधिभावानित्यता ॥

जन इति । कामारूढ स्वार्थपरायण । अनर्घचरित अमूल्यचारित्र । लौकिककथा लोकयात्रा । कथमिव कया चर्यया । अहो ! दु ख दु खमिति भाव । शिखरिणी छन्द ॥१४६॥

॥ इति नि श्रेयसविरोधिभावानित्यता ॥

(१७)

विपर्ययमिमा यन्ति भूतभौतिकभूतयः ।
धान्यधान्य इवाजस्रं पूर्यमाणाः पुनः पुनः ॥१४७॥

विपर्ययेति । यन्ति यान्ति । इण् गतौ । धान्यधान्य धान्यकुम्भ्य ॥१४७॥

प्रतिक्षणविपर्यासवाहिना निहतात्मना ।
जगद्भ्रमेण के नाम मतिमन्तो न मोहिताः ॥१४८॥

प्रतिक्षणेति । निहतात्मना अध पातितात्मना ॥१४८॥

क्षणं विपत् क्षणं सपत् क्षणं जन्म क्षणं मृतिः ।
विलक्षणप्रवाहेऽस्मिन् मुने ! किमिव न क्षणम् ॥१४९॥

क्षणमिति । क्षणमित्यत्यन्तसयोगे द्वितीया । अहो ! सर्वं नश्वरमिति भाव ॥१४९॥

घटस्य पटता दृष्टा पटस्यापि घटात्मता ।
तन्न यन्न विपर्यासि दृश्यते रोदसीतनौ ॥१५०॥

घटस्येति । घटस्य विशीर्णस्य क्षेत्रे कार्पासपरिणामेन पटता दृष्टा—इत्यर्थ । एव पटस्यापि परिणामवशेन घटता समुन्नेया ॥१५०॥

इतश्चान्यदितश्चान्यद् वस्त्वेव विदधद् विधिः ।
क्रीडन् शिशुरिवैकान्त न खेद प्रतिपद्यते ॥१५१॥

॥ इति सर्वभावानिरतविपर्यासः ॥

इतश्चेति । यदेकत्र ततोऽन्यत्र विलक्षणमिति भाव ॥१५१॥

॥ इति सर्वभावाविरतविपर्यास ॥

(१८)

इति मे दोषदृष्ट्यैव क्लिष्टे मानसकोरके ।
उत्पद्यन्ते न भोगाशा मृगतृष्णा इव ह्रदे ॥१५२॥

इतीति। इति हेतुप्रकरणप्रकाशादिसमाप्तिषु–इत्यमर । मे मम रामस्य। दोषदृष्ट्यैव सर्वत्रासमञ्जस्यपर्यालोचनेनैव ॥१५२॥

जन्मानलिवरत्रायामिन्द्रियग्रन्थयो दृढाः ।
निपुण येन मुच्यन्ते जित तेन महात्मना ॥१५३॥

जन्मेति। नध्री वध्री वरत्रा स्यात्–इत्यमर । मुच्यन्ते भिद्यन्ते। जितमिति भावे क्त ॥१५३॥

इदानी स्वच्छया बुद्धचा चित्त चेन्न चिकित्स्यते ।
पुनरेतच्चिकित्साया ब्रह्मन्नवसरः कदा ॥१५४॥

इदानीमिति। चिकित्स्यते नैरुज्यीक्रियते। कित निवासे रोगापनयने च ॥१५४॥

वासनाजालजटिला दुःखसकटसकुला ।
निपातोत्पातभूयिष्ठा भीमा ह्यज्ञानताटवी ॥१५५॥

वासनेति। सकट ना तु सबाध–इत्यमर ॥१५५॥

आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलम्बाम्बुवद् भङ्गुर
भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चलाः ।
लोला यौवनलालना जलरयोद्वेल्ला इति व्यामृशन्
मुद्रामेव दृढामकार्षमधुना चित्ते चिर शान्तये ॥१५६॥

॥ इति सकलपदार्थानास्था ॥

आयुरिति। उद्वेल्ला वारिवेगवदुद्भटा इत्यर्थ । विषयविरतिलक्षणा मुद्रा सनिवेशविशेषम्। अकार्ष व्यधाम् ॥१५६॥

॥ इति सकलपदार्थानास्था ॥

इदानी परितापमुपसहरन् प्रयोजन दर्शयति—

प्रयोजन तु–'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्' (१।१।२४) इत्यक्षपाद ।

(१६)

इत्थमभ्युत्थितानर्थसार्थसङ्कटकोटरे ।
जगन्निपतितं वीक्ष्य मूर्छतीव मतिर्मम ॥१५७॥

इत्थमिति । जगन्निपतनमेव लक्ष्मीनिराकरणादिना प्रघट्टकजातेन प्रपञ्चितम् ॥१५७॥

तदतुच्छमनायासमनुपाधि श्रमापहम् ।
किं विश्रान्तिपदं तात ! यत्र शोको न विद्यते ॥१५८॥

तदतुच्छमिति । अनुपाधि उपाधिशून्यम् ॥१५८॥

सर्वारम्भसमारूढाः सुजना जनकादयः ।
व्यवहारपरा एव कथं निःश्रेयसं गताः ॥१५९॥

सर्वारम्भेति । जनकादय इत्यन्तेन प्रवृत्तावेव निवृत्तिलक्षणो धर्मो जिज्ञास्य इति स्पष्टम् । जनको विदेह । स हि प्रथमो विवक्षित, रघुयदुवत् । एवमादीना तत्सतानाभिधाने तु लक्षणैव ॥१५९॥

कां दृष्टिं वा समालम्ब्य भवन्तो वीतकल्मषाः ।
जीवन्मुक्ता महाभागा विचरन्ति क्षमान्तरे ॥१६०॥

का दृष्टिमिति । विचरन्ति व्यवहरन्ति ॥१६०॥

तदेतदुच्यतां तत्त्वं मह्यमाधिमुपेयुषे ।
स्निग्धमम्बुभृतं हित्वा चातकोऽन्यं न नाथति ॥१६१॥

॥ इति प्रयोजनम् ॥

तदेतदिति । तत्त्व परमार्थं । स्निग्ध वृष्ट्युन्मुखम् । नाथति याचते ॥१६१॥

अहह ! लुलति जीवितपल्लवाग्रलग्नपानीयपृषन्निवहे, पतति सज्जनसङ्गविटपवृन्तश्लथकुसुमसमूहे, सर्पति दुर्वासनापवमानझंकारे,

स्फुरति दुराशासौदामिनीदामवारे, उद्यति मोहमिहिकाविताने, गर्जति गर्वबलाहकप्रताने, मूर्छति लोभकेकिकेकाकलकले, तावद् विषमभवद्वानलतापप्रशमनस्य कः प्रयत्नः का शैली किं विधानमिति यथायथं सम्यङ् निवेदितवान् रामभद्रो मुनिवृन्दारकाणाममीषां विश्वामित्रपुरस्सराणां पुरस्ताद् विविदिषुस्तूष्णीमासाबभूव ॥१६२॥

अहहेति । अहहेत्युद्भूते । जीवितं जीवनमेव पल्लवाग्रलग्नपानीयपृषन्निवह , तस्मिन् लुलति दोलायमाने सति । एवमग्रेऽपि योजनीयम् । तत्र—पवमान प्रभञ्जन । वार समुदाय । निवहावसरौ वारौ—इत्यमर । मिहिका प्रालेयम् । केकी मयूर । तावदिति वाक्यालङ्कारे । विषम उच्चावच । प्रयत्न प्रकृष्टो यत्न । शैलीपरिभाषाशैलीसङ्केतसमयकाराश्चेति त्रिकाण्डशेष । विधान विधि । मुनिवृन्दारकाणामिति 'वृन्दारकनागकुञ्जरै पूज्यमानम्' (पा० सू० २।१।६२) इति समास । विविदिषु वेत्तुमिच्छु । आसाबभूव ॥१६२॥

अत्रान्तरे भास्वत्प्रकाशावेशविकसन्मुखी कण्टकितावयवनाला स्फुरदामोदरससम्भृता सरोजिनीव, विमलविचारणापास्तसमस्तभववेदना मुहूर्तममृतपूरप्लावितेव, प्रमेयावधाननिष्यन्दा श्रवणनिविष्टेतरेन्द्रियग्रामेव, जननीरसा शिशुतनुरिव, परमार्थपरायणा कविसूक्तिरिव, रामचित्तापि विरामचित्ता सगता समस्ता जनता जहर्ष ॥१६३॥

अत्रान्तर इति । भास्वान् सूर्य प्रकाशश्च । कण्टको रोमाञ्चोऽपि । आमोद आनन्द सौरभं च । इवेत्युत्प्रेक्षायाम् । निष्पन्दो निश्चल । श्रवणनिविष्टेतरेन्द्रियग्रामा श्रवणैकपरायणा । जने लोके नीरसा । जनन्या रसो यस्या सा । परलोक वैरिजन ब्रह्मादिलोकान्तरं च । मुक्ता जीवन्मुक्ता मौक्तिकानि च । परमार्थ तत्त्वज्ञानं वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यतातपर्यात्मा च । विरोधपरिहारे विराम उपराम । जहर्ष मुमुदे ॥१६३॥

तदनु ससाधुवादसंलापं देवलोकविसृष्टा, सुरतरुकुसुमकोशस्रवन्मधुबिन्दुकरम्बिता, अनुचलल्लोललोलुभलोलम्बमण्डलगुञ्जिता, प्रसृमरमधु-

रामोद्मोदमानजनमानसा, उद्ग्रीवनागरवर्गावलोकिता, चरणपल्लवद्वयसी, परिष्कृतपरिपन्मणिकुट्टिमा, अदृष्टपूर्वा, उन्मिषत्प्रभाजालमासला आयामिनी कर्बुरा रत्नपङ्क्तिरिव पुष्पवृष्टिरा च मुहूर्तचतुर्भागाद् विहायसः पपात ॥१६४॥

तदन्वितेति । करम्बिता मिश्रिता । लोलम्बा भ्रमरा । प्रसमरो विसृत्वर । चरणपल्लवद्वयसी । प्रमाणे द्वयसच्-डीप् । कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूः । उन्मिषदित्यादिविशेषणत्रय रत्नपङ्क्तौ पुष्पवृष्टौ सगमनीयम् । आ च इति पृथक्पदम् । विहायस आकाशात् ॥१६४॥

तत्कालमिह परस्परपरामर्शसघृष्टकृष्णाजिना, यज्ञोपवीतिनी, लोलाक्षमालावलया, कमण्डलुवारिणी, पिशङ्गजटाजूटा, प्रसरद्दीप्तिवितानतारतम्येन काचन सवितरन्ती, काचन चित्रभानवन्ती, काचिदिन्दवन्ती, काचित्तारकायन्ती, काचन पुनरुडूयमाना यदृच्छयोपस्थिता दिव्या मुनिपरम्परा यथान्यायमुपवेशिता अभिमतरसा साध्वी दाशरथिगवीमेव मुहुर्मुहुरन्योन्य श्लाघमानावतस्थे ॥१६५॥

तत्कालेति । अक्षो गुलिका । सवितरन्ती सवितारमिवाचरन्ती । चित्रभानवन्ती चित्रभानुर्विभावसुस्तमिवाचरन्ती । इन्दवन्ती इन्दुमिवाचरन्ती । तारकायन्ती तारकामिवाचरन्ती । सवित्रादिशब्दाद् आचारक्विबन्तात् शतरि डीपि नुमि च सवितरन्तीत्यादि । उडूयमानेति उडु लघुतारकमिव आचरतीति क्यङि शानचि च रूपम् । यदृच्छया स्वारसिक्या इच्छया ॥१६५॥

विदन् द्विजाग्र्यो हि मुनित्वमीयात्
तद् बाहुजन्मा जनकत्वमीयात् ।
वणिक् तुलाधारसमत्वमीयाज्
जनश्च शूद्रोऽपि च मुक्तिमीयात् ॥१६६॥

विदन्निति । द्विजाग्र्यो ब्राह्मण । बाहुजन्मा क्षत्रिय । जनको सीरध्वजो विदेह यत्सबन्धात् भगवती सीता जानकी वैदेहीति व्यपदिश्यते । वणिग् वैश्य । तुलाधारकथा महाभारते (१२।२६०।८) इति । शूद्र पादज न तु वर्मध्वज-व्याख्यानेन मूर्खो व्यक्तिविशेष ॥१६६॥

तातश्रीसरयूप्रसादचरणस्वर्वृक्षसेवापरो
मातृश्रीहरदेव्यपारकरुणापीयूषपूर्णान्तरः ।
साकेतापरभागबद्धवसतिदुर्गाप्रसादः सुधी-
रास्ते तेन कृतेऽत्र रामचरिते गुच्छो द्वितीयो गतः ॥१६७॥

॥ इति श्रीमति रामचरिते वासिष्ठनिर्यासे वैराग्यप्रकरण नाम प्रथमो गुच्छकः । आदितो द्वितीयः ॥



अथ तृतीयो गुच्छकः ।

अथ तथाभूताया समितिसुधर्माया स भगवान् विश्वामित्रः पुरोगत रामभद्र प्रीत्येदमभ्यभाषत—अये ! ज्ञानवता वर !! भवता स्वबुद्ध्यैव सर्वं व्यज्ञायि । केवल स्वभावशुद्धे भावत्के प्रतिभाने मुकुरे मनाङ्मार्जनमिव स्तोकमुपदेशासञ्जनमुपयुज्यते । अहो ! मुनिवृन्दिष्ठाः !! ज्ञेय ज्ञातमनेन रघुवीरेण यदस्मै सुमेधसे रोगा इव भोगा न रोचन्ते ॥१॥

अथेति । अथ रामभद्रस्य परितापनिवेदनानन्तरम् । समितिरेव सुधर्मा देवसभा तस्याम् । अये इति कोमलामन्त्रणे अव्ययम् । व्यज्ञायि अवेदि । प्रतिभाने ज्ञाने । आसञ्जनम् आसङ्ग ॥१॥

ज्ञातज्ञेयस्य मनसो नूनमेतद्धि लक्षणम् ।
न स्वदन्ते यदेतस्मै भोगा स्वर्गागता अपि ॥२॥

ज्ञातेति । स्वदन्ते रोचन्ते ॥२॥

भोगवासनया बन्धः शान्तया तस्य तानवम् ।
वासनातानव राम ! मोक्ष इत्युच्यते बुधैः ॥३॥

भोगेति । वासना शुद्धा मलिना चेति प्रागुक्तम् । तत्र शुद्धामभिप्रेत्य ससारयात्रासूत्रमेतत् ॥३॥

इदानी केवलीभावविश्रान्ति समपेक्षते ।
रामबुद्धिः शरल्लक्ष्मीः स्वभावसुषमामिव ॥४॥

इदानीमिति । केवलीभाव कैवल्यम् । तत्र विश्रान्ति विश्रमम् । रामबुद्धि शरल्लक्ष्मीरिति व्यस्तरूपकम् । स्वभावसुषमामात्मप्रसादम् ॥४॥

अङ्ग ! भगवन् !! वसिष्ठ !!! अस्य महात्मनो मनोविश्रान्त्यै रघुकुलगुरुणा श्रीमतैव युक्तय. प्रस्तूयन्ताम् । कच्चित् स्मरसि ब्रह्मयोने ! यदावयोर्वैरोपशमाय निःश्रेयसाय च निषधाद्रौ भगवता ब्रह्मणा स्वय-

मुपदिष्ट ज्ञानम् । येन च युक्तिमता भास्वता श्यामेव ससारवासना सद्यः शममुपयाति । एव प्रणयपेशल व्याहरति विश्वामित्रे तत्र ममवेताः सर्वे तमेवार्थमभिननन्दु । तदनु वसिष्ठोऽपि त्रिकालदर्शी महातेजाः—अङ्ग ! सकलमपिकल स्मरामीति हर्षमाणो ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मोपज्ञ ब्रह्मोद्य तज्ज्ञानमुपदेष्टुमुपाक्रमत—॥५॥

अङ्गेति । श्रीमतेत्यत्र तपोज्ञानसमृद्धि श्रीशब्दार्थ । प्राशस्त्ये मतुप् । येन ब्रह्मोपदिष्टज्ञानेन । ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्म कारणरूपम् । ब्रह्मोपज्ञ ब्रह्मा कार्यब्रह्मा । 'उपज्ञोपक्रम तदाद्याचिख्यासायाम्' (पा सू २।४।२१) इति समास । ब्रह्म उपनिषद् उपचारात् तद्वदनम् । निरूपणमिति यावत् । वद सुपि क्यप् च ॥५॥

रामभद्रेण प्रथमपरितापादौ—'किं नामेद बत सुख येय ससारसगति । जायन्ते मृतये यत्र म्रियन्ते जातये जना ॥' इत्यादि यदुक्त तद् यथाप्रतिपत्ति सौकर्यमभिधातु भगवान् वसिष्ठ - 'परमार्क-' इत्यादिना समुपक्रमते—

(१)

परमार्कप्रकाशान्तस्त्रिलोकीत्रसरेणवः ।
उत्पत्योत्पत्य ये लीनास्ते ह्यसख्या रघूत्तम ! ॥६॥

परमार्केति । हे रघूत्तम ! रघुषु अवतसभूत ! राम !! परम अपरिच्छिन्न अर्कप्रकाश आत्मप्रकाश । अनस्तमितभात्मक इति यावत् । एव च आत्मा चासौ प्रकाशश्चेति व्यक्तमेव । श्रूयते च मुण्डके—

"न यत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि ।
तमेव भान्तमनु भाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिद विभाति ॥" (मु ड २ ख ११)

इति । एवभूतस्य परमार्कप्रकाशस्य अन्त अवकाशे । ये त्रिलोकीत्रसरेणव त्रयो लोका एव परिच्छिन्नप्रमाणतया त्रसरेणुकल्पा । त्रसरेणुस्तु—

'जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्म दृश्यते रज ।
प्रथम तत् प्रमाणाना त्रसरेणु प्रचक्षते ॥'

इत्येवमादिपरिभाषित । यथाकालम् उत्पत्योत्पत्य यथा यायम् उत्पद्योत्पद्य इति तात्पर्यम् । लीना तिरोहिता । ते हि असख्या सख्यातुमनर्हा । असख्येया इत्यर्थ । त्रिलोकीत्युपलक्षणम् । अनेककोटिब्रह्माण्डा अपि द्रष्टव्या । अनेककोटय ब्रह्माण्डा येषा ते । अभिमन्यमानत्वादिरूप सबन्ध षष्ठ्यर्थ । विकारषोड शान्तर्वर्तिपञ्चीकृतस्थूलभूतकार्यो हि ब्रह्माण्ड । तदभिमानी विराडुच्यते । ब्रह्माण्डान्तर्वर्तिसमष्टिलिङ्गशरीराभिमानी स्वराट् । तदुभयकारणाव्याकृताभिमानी सम्राट् । तदुक्तम्—

'प्राधान्येन विराडात्मा ब्रह्माण्डमभिमन्यते ।
स्वराट् स्वरूपमुभय सम्राडित्यब्रवीच्छ्रुति ॥'

इति ॥६॥

वर्तमानाश्च ये सन्ति तेऽपीमे चित्रदर्शनाः ।
सख्यातु नहि शक्यन्ते भाविनां तु कथैव का ॥७॥

वर्तमानेति । ये च वर्तमाना अनुभूयमाना त्रिलोकीत्रसरेणव सन्ति । ते अपि इमे चित्रदर्शना विलक्षणावस्थाना । नहि सख्यातु परिच्छेत्तु शक्य ते पार्यन्ते । भाविना भविष्यता तु कथैव का । दूरापास्तेत्यर्थ ॥ ७ ॥

तिर्यङ्मानुषदेवेषु यः कश्चिन्नाम नश्यति ।
यस्मिन्नेव प्रदेशेऽसौ तत्रैवेद प्रपश्यति ॥८॥

तिर्यगिति । तिर्यगादिषु य कोऽपि यस्मिन् प्रदेशे नश्यति तस्मिन्नेव असौ प्रत्यगात्मा इद दृश्यजात पश्यतीत्यर्थ ॥ ८ ॥

आतिवाहिकनाम्नान्तः स्वहृद्येव जगत्त्रयम् ।
व्योम्नि चित्तशरीरेण व्योमात्माऽनुभवत्यजः ॥९॥

आतिवाहिकेति । अजो व्योमात्मा शरीरी अन्त स्वहृदि व्योम्नि एव आतिवाहिकनाम्ना चित्तशरीरेण जगत्त्रय यथावासनमनुभवति । एतत्परलोकयात्रानिर्वाहक शरीरम् अतीन्द्रियत्वात् सूक्ष्मम्, अनुमेयत्वाल्लिङ्गम्, भौतिकमात्राघटितत्वाद् आतिवाहिकम्, इति च व्यपदिश्यते । उक्त च–

'पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् ।
अपञ्चीकृतभूतोत्थ सूक्ष्माङ्ग भोगसाधनम् ॥' इति ॥९॥

एव मृता म्रियन्ते च मरिष्यन्तीति निश्चितम् ।
यथावासनमुत्पन्ना भूतग्रामाः पृथक् पृथक् ॥१०॥

एवमिति । एव मृता–इत्यन्तेन लोकसचरणमेव व्युत्पादितम् ॥१०॥

सकल्पकल्पनाक्लृप्तमनोराज्यविलासवत् ।
इन्द्रजालकलाकीर्णमिथ्यार्थप्रतिभासवत् ॥११॥
स्वप्नसवित्तिसद्दब्धव्योमापणविहारवत् ।
एतज्जगत्समरण स्वान्तरेणानुभूयते ॥१२॥ (युग्मकम्)

सकल्पकल्पनेत्यादि । सकल्पकल्पनेति युग्मकेन जगत्ससरणप्रक्रियाया सुखावबोधार्थं दृष्टान्तनिरूपणम् । तत्र सकल्पकल्पनाभि क्लृप्त सज्जित यत् मनोराज्य तद्विलासवद् उपभोगवत् । इन्द्रजालकलाभि साम्बरमायाभि कीर्णो विस्फारित मिथ्यार्थ प्रातिभासिकवस्तुकलाप तत्प्रतिभासवत् प्रतिभानवत् । जगतो नश्वरत्वादिति तात्पर्यम् । स्वप्नसवित्त्या स्वप्नकालिकप्रकाशेन सद्दब्ध घटित य व्योमापण तद्विहारवत् चङ्क्रमणवत् ॥११–१२॥

तत्रातिसक्तियोगेन तत्रैव घनता गतः ।
इह लोकोऽयमित्येव जीवाकाशे विजृम्भते ॥१३॥

तत्रेति । अतिसक्ति अभिनिवेश । घनता पञ्चीकरणेन दार्ढ्यम् ॥१३॥

पुनस्तत्रैव जन्मेहामरणाद्यनुभूतिमान् ।
मृतश्च मन्यते तत्र परलोक तथा पुनः ॥१४॥

पुनरिति । ईहा जन्मोत्तर मरणपर्यन्त चेष्टा ॥१४॥

तदन्तरन्ये भूयासस्तेषामन्तस्तथापरे ।
ससृज्यन्तेऽत्र ससारे कदलीदलपीठवत् ॥१५॥

तदन्तरिति । तदन्त वासनाभ्यन्तरे । कदलीदलस्य पीठानि आधारभूता कदलीत्वच तद्वत् ॥१५॥

न भूम्यादिमहाभूतश्लेषा न च जगत्क्रमा' ।
अहो ' मृताना तत्रापि तथाप्येषा जगद्भ्रमा' ॥१६॥

न भूम्यादीति । तत्रातिसक्तियोगेनेति पूर्वार्धस्यैवाय प्रपञ्चो लोकानास्था प्रयोजक ॥१६॥

अविद्यैव ह्यनन्तैषा नानाप्रसरशालिनी ।
जडाना निम्नगा दीर्घा सर्गकल्लोलमालिनी ॥१७॥

अविद्येति । 'अनित्याशुचिदु खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' (२।५) इति सूत्रिता अविद्या । तत्र दृष्टान्त —जडानामिति । जडाना मूढाना वारीणा चेति श्लिष्टम् ॥१७॥

अगाधे परमाम्भोधौ रामैताः सृष्टिवीचयः ।
भूयो भूयोऽनुवर्तन्ते पूर्णेन्दाविव चन्द्रिकाः ॥१८॥

अगाधेति । परमाम्भोधौ अपरिच्छिन्नात्मनि—इत्यर्थ ॥१८॥

आश्वस्तान्तःकरणो
ध्वस्तविकल्पः स्वरूपसारमयः ।
परमशमामृतसुहितो
विकसति विद्वान्निरावरणः ॥१९॥

॥ इति भूयोभूयः सर्गः ॥

आश्वस्तेति । आधिकारिकादिभोगवशेन शरीरवानप्यशरीरी जीवन्मुक्त इति तात्पर्यम् ॥१९॥

॥ इति भूयोभूय सर्ग ॥

(२)

सदेहत्वेऽप्यदेहत्वे देहिनो मुक्तता मम ।
सोर्मित्वे वाप्यनूर्मित्वे वारिणो वारिता यथा ॥२०॥

सदेहत्वेति । सतरङ्गस्यातरङ्गस्य जलाशयस्य इव जीव मुक्तस्य विदेहमुक्तस्य च तुल्यैव मुक्ततेति भाव ॥२०॥

न बोधरूपयोर्भेदः सदेहादेहमुक्तयो ।
सस्पन्दो ह्यथवाऽस्पन्दो मरुदेष न चामरुत् ॥२१॥

न बोधेति । दृष्टान्तस्य साकारत्वे कदाचिद् दार्ष्टान्तिके भ्रम स्यादिति तन्निरासार्थ निराकार दृष्टान्तमुपन्यस्यति—न बोधरूपयोर्भेद इति । नहि सस्पन्दोऽस्पन्दश्च मरुत् स्वरूपतो भिद्यत इति भाव ॥२१॥

सदेहा वा विदेहा वा मुक्तता विषये नहि ।
अनास्वादितभोगस्य कुतो भोज्यानुभूतयः ॥२२॥

सदेहेति । स्यादेतद्, यदि शरीरादिदृश्ये मुक्तता भवेदित्यर्थ ॥२२॥

सर्वमेव हि ससारे पौरुषादेव लभ्यते ।
न तादृक् किंचिदप्यत्र यदलभ्यमुदीर्यते ॥२३॥

सर्वमिति । नित्यलब्धस्यात्मनो लाभे दृश्यवारणार्थं पुरुषार्थं प्रशसतीत्यर्थ ॥२३॥

शास्त्रोपदिष्टमार्गेण यद् देहेन्द्रियचेष्टितम् ।
तत् पौरुष तत् सफलमन्यदुन्मत्तजृम्भितम् ॥२४॥

शास्त्रेति । एवस्वरूप पौरुष पौरुष भवतीति भाव ॥२४॥

प्राक्तनाद्यतने गीते पौरुषे पुरुषर्षभ ! ।
वृद्धो यूनेव पूर्वं हि परेण परिभूयते ॥२५॥

प्राक्तनेति । उक्तस्वरूपमेवाद्यतन पौरुष शिथिलमूल प्राक्पौरुष पराभवतीति तात्पर्यम् ॥२५॥

यत्नवद्भिर्दृढाभ्यासैः प्रज्ञोत्साहसमन्वितैः ।
गिरयोऽपि निगीर्यन्ते कैव प्राक्पौरुषे कथा ॥२६॥

यत्नवदिति । दृश्यवारणार्थमेव उत्साहप्रयत्नाभ्यासप्रभृतिलक्षण पौरुष प्रपञ्चयतीत्यर्थ ॥२६॥

पौरुषेण प्रयत्नेन त्रैलोक्यैश्वर्यभास्वराम् ।
कश्चित् प्राणिविशेषो हि विन्दति स्म महेन्द्रताम् ॥२७॥

॥ इति पौरुषम् ॥

पौरुषेणेति । अहो ! तदिद पौरुषम् इयद् वर्ण्यते यत्प्रभावेण इन्द्रशब्दार्थोऽपि महेन्द्रतायोगी । मीमासाया तु इन्द्रमहेन्द्रशब्दौ भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तौ स्फुटावेव ॥२७॥

॥ इति पौरुषम् ॥

(३)

प्रवृत्तिरेव प्रथम यथान्याय प्रवर्तिनाम् ।
प्रभेव वर्णभेदाना साधनी सर्वकर्मणाम् ॥२८॥

प्रवृत्तीति । न्याय मर्यादामनतिक्रम्य प्रवर्तिना मनोवाक्कायै व्यवहरणशीलानाम् । वर्णभेदाना शुक्लनीलपीतादिवर्णभेदाना प्रभैव साधनी तद्वत् ।

'तस्माच्छास्त्र प्रमाण ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' (१६।२४)

इति भगवद्गीते ॥२८॥

मनसा साध्यते यच्च यथान्याय न कर्मणा ।
तदुन्मत्तक्रियाकल्प चेष्टन नार्थसाधनम् ॥२९॥

मनसेति । उभाभ्यामेव साधनीयमित्यर्थ ॥२९॥

पर पौरुषमाश्रित्य दन्तैर्दन्तान् विचूर्णयन् ।
शुभेनाशुभमुद्युक्त प्राक्तन पौरुष जयेत् ॥३०॥

परमिति । एतत्फलितमाह—पर पौरुषमिति ॥३०॥

प्राक्तनः पुरुषार्थो मा नियुङ्क्त इति चेतना ।
बलादधस्तात् कर्तव्या प्रत्यक्षात् प्रबला न सा ॥३१॥

प्राक्तनेति । प्राक्तन पुरुषार्थ प्रारब्धकर्मफलम् ॥३१॥

प्रत्यक्षमानमुत्सृज्य योऽनुमानेषु तिष्ठते ।
इमौ सर्पाविति प्रेक्ष्य स स्वदोर्भ्यां पलायते ॥३२॥

प्रत्यक्षेति । तिष्ठते इति—'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' (पा० सू० १।३।२३) इत्यात्मनेपदम् ॥३२॥

दोषः शाम्यत्यसदेहं प्राक्तनोऽद्यतनैर्गुणैः ।
विधीयमानैर्भैषज्यैरुल्लाघोऽत्र निदर्शनम् ॥३३॥

दोषेति । उल्लाघो नीरोग । उल्लाघो निपुणे हृष्टे शुचिनीरोगयोरपि—इति हैम ॥३३॥

न यातव्यमनुद्योगैः साम्य पुरुषगर्दभैः ।
उद्योगो हि यथाशास्त्रं लोकद्वितयसिद्धये ॥३४॥

न यातव्यमिति । पुरुषा एव गर्दभास्तै । लोकद्वितीयम् एष लोक परलोकश्च ॥३४॥

प्रत्यह प्रत्यवेक्षेत देह नश्वरमात्मनः ।
सत्यजेत् पशुकर्माणि साधुवर्त्मानि सश्रयेत् ॥३५॥

प्रत्यहमिति । पशु पामर ॥३५॥

किंचित्कान्तान्नपानादि कलित कोमल गृहे ।
व्रणे कीट इवास्वाद्य वयः कुर्यान्न भस्मसात् ॥३६॥

किंचिदिति । ऐहिकसुखपरतन्त्रो वयोयापन न विदध्यादित्यर्थ ॥३६॥

उद्यत्सच्छास्त्रसत्सङ्गसदाचारसुधोजितः ।
एष पौरुषसतानो दत्ते फलमभीप्सितम् ॥३७॥

उद्यदिति । पौरुषमेव सतान पौरुषस्य सतानो वा । सतान सततौ गोत्रे स्यादपत्ये सुरद्रुमे—इति मेदिनी ॥३७॥

आलस्य यदि न भवेज्जगत्यनर्थः
को न स्याद् बहुविभवो बहुश्रुतो वा ।
एतस्मादवनिरियं ससागरान्ता
सकीर्णा नरपशुभिश्च निर्धनैश्च ॥३८॥

॥ इति पौरुषस्थापनम् ॥

आलस्येति । नरपशवो निर्मर्यादा । आलस्यम् एव आत्मोन्नतिविघटनस्य पर निदानमित्यर्थ ॥३८॥

इहैव वासिष्ठे महारामायणे प्रथमो दिवसो व्यरसीत् । तथाच पठ्यते—

"इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायतनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
स्नातु सभाकृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरेण सहाजगाम ॥"

इति । एतेन साम्प्रत व्याख्यानताण्डवाडम्बरै सध्योपासनादि कर्म लोपयन्त सभाव्यसनिनो रागान्धा पर्यालोच्या इति ॥ वचनव्यत्यय आर्ष ॥

॥ इति पौरुषस्थापनम् ॥

(४)

यथा प्रयत्नैर्भूयेत तथैध्येत फलैरपि ।
इति पौरुषमेवेष्टे किं दैव नाम दृप्यति ॥३९॥

यथेति । भूयेत भवितव्यम् । भावे लिङ् । एवम् एध्येत एधितव्यम् । दृप्यति । दृपहर्षमोहनयो । मोहन गर्व ॥३९॥

कश्चिन्मा प्रेरयत्येवमित्यनर्थकुकल्पने ।
य प्राप्तो दृष्टमुल्लङ्घ्य स हेयो दूरतोऽधम ॥४६॥

कश्चिदिति । कश्चिद् अन्तर्यामी । माम् । प्रेरयति प्रयोजयति । इति व्यामोहमात्रम् । स हि कमर्थमभिसधाय प्रेरयेद् इति तात्पर्यम् ॥४६॥

स्वार्थप्रापककार्यैकप्रयत्नपरता बुधैः ।
प्रोक्ता पौरुषशब्देन सा सिध्येच्छास्त्रसस्कृता । ४७॥

स्वार्थेति । शास्त्रसस्कृता शास्त्रानुमोदिता नतूत्पथ नीता ॥४७॥

प्राक्तत पौरुष वीर ! दैवनाम्नाऽनगीयते ।
तत्रालम्बितकर्तव्यः खञ्जः श्राण कुणिर्न किम् ॥४८॥

प्राक्तेति । वीरेति रामभद्रस्य साभिप्राया सबुद्धि । अतएवान्यत्राप्युक्तम्-

'उद्योगिन पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैव निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोष ॥'

इति । अत्र यत्ने को दोष -इति विचारणीयम् । सर्वथोद्योगवता भवितव्यमित्यर्थ ॥४८॥

सकलकारणकार्यविवर्जिता
निजविकल्पबलादुपकल्पिताम् ।
वितथदैवकथामवहेलयन्
सततमाश्रय पौरुषमात्मन ॥४९॥

॥ इति दैवनिराकरणम् ॥

सकलेति । निजविकल्पबलादुपकल्पिताम्-आत्मनो विकल्पकोटे समुत्थापिताम् ॥४९॥

॥ इति दैवनिराकरणम् ॥

(५)

ये सदुद्योगमुत्सृज्य मूढा दैवाङ्कशायिनः ।
ते धर्ममर्थं कामं च हापयन्त्यात्मविद्विषः ॥५०॥

ये सदिति । आत्मविद्विषः । तथा च श्रीभगवद्गीतासु—

'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥' (६।५)

इति ॥५०॥

संवित्स्पन्दो मनःस्पन्द इन्द्रियस्पन्द एव च ।
एतानि पुरुषार्थस्य रूपाण्येभ्यः फलोदयः ॥५१॥

संविदिति । मनसा बुद्ध्या कर्मणा च एकहेलया प्रवृत्तौ फलावश्यभाव इति भावः ॥५१॥

यथासंवेदनं कर्म यथाकर्म फलान्यपि ।
एवं शुभाशुभे दृष्टे न दृष्टे ते व्यवस्थिते ॥५२॥

यथेति । संवेदनं ज्ञानम् ॥५२॥

अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत् ।
चित्तं बालकवद् यत्नादिति शास्त्रार्थसंग्रहः ॥५३॥

अशुभेति । शास्त्रार्थसंग्रहः शास्त्रार्थसंक्षेपः । तत्त्वमिति यावत् ॥५३॥

सच्छास्त्रतः सद्गुरुतः स्वतश्चेति त्रिसिद्धयः ।
पुरुषार्थस्य सर्वत्र न दैवस्य कदाचन ॥५४॥

॥ इति पौरुषप्राधान्यसमर्थनम् ॥

(६)

न चाकृतिर्न च स्पन्दो न च सत्तावभासवत् ।
तन्मिथ्याज्ञानवद्रूढं किं दैवं नाम जल्प्यते ॥५५॥

न चाकृतीति । आकृति आकार । 'आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या' (न्या० द० २।२।७०) इति गौतम । स्पन्दन स्पन्द क्रिया । सत्ता सामान्यम् । तदवभास वत् तत्प्रतीतिवत् । रूढ प्रसिद्धम् ॥५५॥

स्वकर्मफलससिद्धौ दैवमस्तीति निश्चयः ।
भ्रान्तो दुरवबोधेन रज्जाविव भुजङ्गमः ॥५६॥

स्वकर्मेति । स्वकर्मफलससिद्धौ दैवनिर्णये रज्ज्वा दुर्ज्ञानगृहीत सर्पो दृष्टान्त ॥५६॥

दैवमेवेह चेत् कर्तृ पुसः किमिव चेष्टया ।
स्नानभोजनवार्तादि सर्वं तेन विधास्यते ॥५७॥

दैवमिति । एकान्ततो दैवकर्तृत्वनिश्चये तूष्णीकेन भवितव्यम् । कि चेष्टान्तरेणेति तात्पर्यम् ॥५७॥

न च निष्पन्दता लोके शवतामन्तरेचिता ।
स्पन्दादेव फलोन्मेषस्तस्माद् दैव निरर्थकम् ॥५८॥

न च निष्पन्दतेति । शवतायामेव स्पन्दाभाव सघटते– इति जीवता सव्यापारेणैव वर्तितव्यम् ॥५८॥

पृथक् चेद् बुद्धिरन्योऽर्थ सैव चेत् काऽन्यता तयो ।
कल्पनाया प्रमाण चेत् पौरुष कि न कल्प्यते ॥५९॥

पृथगिति । इष्टापत्तौ बोध बोधकयोर्विरुद्धकोटिमुद्भाव्य गत्यन्तराभावात पौरुषमेव साधित भवति ॥५९॥

तेनामूर्तस्य न श्लेषो नभसेव वपुष्मतः ।
मूर्त च दृश्यते श्लिष्ट तद् दैव नोपपद्यते ॥६०॥

॥ इति दैवनिराकरणसमर्थनम् ॥

तेनामूर्तेति । अमूर्तस्य तत एव व्यवहारदशायां कल्पितस्य जात्याकृति व्यक्त्याख्यपदार्थातिक्रान्तस्य चिद्वस्तुनः सङ्गराहित्यात् प्रतिपादितं साधु सङ्घटत इति तात्पर्यम् ॥६०॥

॥ इति दैवनिराकरणसमर्थनम् ॥

भगवन् ! यल्लोकेषु प्रतिष्ठितं तद् दैवं नाम किमिति राघवेण पृष्टो वसिष्ठो व्याख्यत—अङ्ग ! अवन्ध्येन पौरुषेण संपादिता शुभाशुभार्थ-संपत्तिः इष्टानिष्टवस्तूपपत्तिर्वा, अनुष्ठितस्य कर्मणः फलप्राप्ताविदमित्थं स्थितमित्युक्तिः एवं मम मतिर्निश्चयश्चेत्युक्तिः इदमस्य बोधकमित्यनाश्वा-सनवाचोयुक्तिर्वा दैवमित्याहुः। भगवन् ! यत्खलु पूर्वकर्मोपार्जितं जगति दैवं दैवमिति व्यपदिश्यते तदेकान्ततो भवता किमपमृश्यत इति तेन पृष्टः स पुनराख्यत—अङ्ग ! साधूच्यते—॥६१॥

भगवन्निति । प्राणिनस्तेषामावासा इति द्विविधो लोकपदार्थो द्रष्टव्यः । तत्र—

"अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥" गीता

इत्यादौ परसाचिव्येन दत्तहस्तावलम्बं दैवाख्यं वस्तुव्यक्तमेव ॥६१॥

या मनोवासना पूर्वं जजागार निरर्गला ।
सैवेयं कर्मभावेन लोके परिणतिं गता ॥६२॥

यद्वासनो हि पुरुषस्तत्कर्तैव प्रजायते ।
नान्यभावोऽन्यकर्मा स्याद् दैवं कर्म पुराकृतम् ॥६३॥

इत्थं कर्मस्थकर्माणि कर्म प्रौढा स्ववासना ।
वासना मनसो नान्या मनो हि पुरुषः स्मृतः ॥६४॥

मनश्चित्तं वासना च कर्म दैवं च निश्चयः ।
राम ! दुर्निश्चयस्यैताः सञ्ज्ञाः सद्भिरुदाहृताः ॥६५॥

एवं पुरुषकारेण नेतरेण कदाचन ।
सर्वमासाद्यते वीर ! तस्मात्तत्र प्रयत्यताम् ॥६६॥

या मनोवासनेत्यादि । वस्तुतो निष्कृष्य दैवाख्य वस्तु निर्वक्तुमशक्यमपि तदविस्तारमुपोद्बलयितु —'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञान शब्द करोति हि' इति न्यायेन- या मनोवासनेत्यादिश्लोकपञ्चकेन दैवमुज्जीवयन् रामभद्रमाश्वासयति ॥६२-६६ ॥

भगवन् ! अय प्राक्तनो वासनाप्रसरो यथा मा प्रयोजयति तथैव कृपणस्तिष्ठन् कि विदधामीति राघवेणोक्तो वसिष्ठ आख्यत— सौम्य ! शुभाशुभेति द्विविधा खलु वासना । तत्र शुभया चेदिदानी नीयसे तदा शुभेनैव शाश्वत पद गन्तासि, चेदशुभया तदैषा प्रसह्य निर्जेतव्यैव— ॥६७॥

भगवन्निति । कृपण कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव इति भाव । शुभाशुभेत्यादि स्पष्ट प्राक् प्रपञ्चितमपि ॥६७॥

प्राज्ञश्चेतनमात्रस्त्व न शरीर जडात्मकम् ।
अन्येन चेतसा तत्ते चेत्यत्व क्वेव वर्तते ॥६८॥
अन्यस्त्वा चेतयति चेत्त' चेतयति कोऽपरः ।
इम कश्चेतयेदित्थमनवस्था न शाम्यति ॥६९॥

प्राज्ञ इति, अन्य इति च । 'यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरो य मनो न वेद' (बृह० उप०) इति श्रुत्या मनस प्रेरक प्राज्ञात्मा अन्य, तदधीने मनोवासनोद्भवे कथ मम स्वातन्त्र्यम् इत्याशङ्क्य समाधत्ते । अनवस्थाख्यो दोषो न शाम्यति अपितूदेत्येव ॥६८-६९॥

शुभाशुभाभ्या मार्गाभ्या वहन्ती वासनासरित् ।
योजनीया शुभे मार्गे प्रयत्नैः पौरुषाश्रितैः ॥७०॥

शुभाशुभेति । तथा च योगभाष्ये— 'चित्तनदी हि द्वेधा प्रवहति०' इत्यादि ॥७०॥

अव्युत्पन्नमना यावदनभिज्ञाततत्पदः ।
गुरुशास्त्रप्रमाणैश्च निर्णीत तावदाचर ॥७१॥

अव्युत्पन्नेति । वासनया ससार ससारेण वासनेत्यन्योन्याश्रयत्वात् प्रमातृवर्गस्य ससारान्त पातित्वाद् यावत्प्रमेयाणा स्वरूपवशेन सकीर्णत्वाच्च । तत एव—'श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना—' इत्येवजातीयज्ञापकत्वाच्च सत्यप्येकत्रा निकल्पसमये यावत् पारमार्थिक उन्मेषो न स्यात् तावद् गुरुशासनैकपरायणतैव ज्यायसीति उपदिशति । अव्युत्पन्न परमार्थकलने अपरिचित मनो यस्य तथाभूत इत्यर्थ ॥७१॥

ततः पक्वकषायेण त्वयाभिज्ञातवस्तुना ।
शुभोऽप्यय वासनौघस्त्याज्यो निर्वर्हिताधिना ॥७२॥

॥ इति कर्मविचारः ॥

तत इति । कषायगुणयोगात् कषाय ससारसरणहेतुर्वासनैव । वस्तुतस्तु बन्धहेतुत्वाद् अशुभवासनेव शुभवासनादि त्याज्या भवतीति तत्त्वम् ॥७२॥

॥ इति कर्मविचार ॥

सप्रति तज्ज्ञानमवतारयति यत्र खलु सर्वं ज्ञेय परिसमाप्यते—

यथास्थितब्रह्मतत्त्वसत्ता नियतिरुच्यते ।
सा विनेतुर्विनेतृत्व विनेयस्य विनेयता ॥७३॥

यथास्थितेति । नियति - ब्रह्मतत्त्व यथास्थित सच्चिदानन्दस्वप्रकाशात्मना सर्वत्र समतया सर्वानुकूल्येन स्थित तत्सबन्धिनी सर्वपदार्थाना सत्तैव भविष्यत्कालसबन्धेन व्यपदिश्यमाना भवितव्यताख्या नियतिरित्याहु ॥७३॥

प्ररोचनार्थ चतुर्भिर्ज्ञानशैलीमेव प्रपञ्चयति—

तदेकाग्रमना राम ! पौरुषोल्लासलालितः ।
ससारमरुसत्रस्तचित्ताध्वन्यसुधावधिम् ॥७४॥
जन्ममृत्युरुजाक्लेशप्रत्यादेशमहौषधिम् ।
जीवन्मुक्तिमहानन्दनिस्तरङ्गपयोनिधिम् ॥७५॥

तपो दानं तथा तीर्थमनुपाया भवच्छिदे ।
इत्येव करुणादृष्ट्या कलिता परमेष्ठिना ॥७६॥
सुखावबोधसद्दृव्यकथासारनिकस्वराम् ।
इमा विभावय ब्राह्मी ज्ञानशैली मनोहराम् ॥७७॥ (चक्कलकम्)

तदेकाग्रेत्यादि । परमेष्ठिना परमगुरुणा ॥७४–७७॥

नित्यं हि साधुसंपर्काद् विवेकोऽयं विकाशते ।
विवेकपादपस्येमौ भोगमोक्षौ फले स्मृतौ ॥७८॥

नित्यमिति । स्पष्टम् । विवेक एव पादप तस्य फले इव भोगमोक्षौ ॥७८॥

मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारो दर्शिता इमे ।
शमो विचारः संतोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः ॥७९॥

मोक्षद्वारेति । प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं मोक्षाख्यद्वारे चतुरो द्वारपालान् व्यप दिशति ॥७९॥

एते सेव्याः प्रयत्नेन चत्वारोऽपि सुमेधसा ।
त्रयो द्वौ वा तथैकोऽपि सेवितो निर्वृतिं दिशेत् ॥८०॥

॥ इति ज्ञानावतरणिका ॥

एत इति । एतेषु परस्परानुप्रविष्टरहस्यार्थेषु चतुर्षु एकोऽपि यथायोग निषेवितो परार्थसंग्राहक परिणमतीत्याशय ॥८०॥

॥ इति ज्ञानावतरणिका ॥

अथ प्रपञ्चिताया ज्ञानशैल्या प्रथम शमाख्य द्वारपाल पञ्चदशभिर्निरूपयति–

एतां दृष्टिमवष्टभ्य दृष्टात्मानः सुबुद्धयः ।
उदिता इव संसारे विचरन्ति गतव्यथाः ॥८१॥

एतामिति । एतां जागतीं सृष्टिदृष्टिम् । अवष्टभ्य विलाप्य । दृष्टात्मान प्रत्यक्षीकृतात्मस्वरूपा । अतएव सुबुद्धय । संसारे संसरणशीलेऽपि । गतव्यथा

सन्त उदिता इव आत्मसाम्राज्यलीना इव विचरन्ति व्यवहरन्ति ॥८१॥

आत्मसाम्राज्यविलीनत्वमेव द्वाभ्या प्रपञ्चयति—

न शोचन्ति न वाञ्छन्ति न याचन्ति शुभाशुभम् ।
सर्वमेवात्र कुर्वन्ति न कुर्वन्ति मनागपि ॥८२॥
स्वच्छ दीव्यन्ति तिष्ठन्ति विरमन्ति निराधयः ।
हेयोपादेयसबाधवर्जिताः स्वात्मनि स्थिताः ॥८३॥

न शोचन्तीत्यादि । हेयोपादेयसबाधवर्जिता- अग्राह्यग्राह्यविचिकित्साभ्या य सबाध मुग्धभाव तेन वर्जिता अपराभूता । विदितवेदितव्या इत्यर्थ ॥८२ ८३॥

निरापाय निरातङ्क निभ्रम स्वास्थ्यवैभवम् ।
न विना केवलीभावाद् भासते भुवनत्रये ॥८४॥

निरपायमिति । केवलीभाव कैवल्यम् । आत्मस्वरूपेणावस्थानमित्यर्थ ॥८४॥

प्राप्तमेतत्पद तात ! न बाह्य साधन मतम् ।
केवल पौरुषारब्ध श्रवणाद्येव सततम् ॥८५॥

प्राप्तमिति । श्रवणादि श्रवण मनन निदिध्यासन च ॥८५॥

तत्समस्तसुखासारसीमान्तमिति शस्यते ।
तदेवामन्दनिष्पन्द रसायनमपीष्यते ॥८६॥

तत्समस्तेति । अत्र–'एतस्यवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति सा काष्ठा सा परागति' इत्यादि श्रुतयो जाग्रत्येव ॥८६॥

गच्छता तिष्ठता वापि भ्रमता पततापि वा ।
असुरेण सुरेणापि मानुषेणेतरेण वा ॥८७॥
मनः प्रशमनोद्भूत तदवाप्य महत्सुखम् ।
पचेलिम फल विद्यात् सद्विवेकफलेग्रहे ॥८८॥ युग्मकम्)

गच्छतेत्यादि । गच्छतेत्यादिना देशकालपात्रनिबन्धनो वैषम्याभावो दर्शित । इहापि परमार्थे वस्तुनि सुरासुरसघर्षानवकाशेन कक्षाविभाग सुदूर-मुदस्त ॥८७–८८॥

हृत्कुशेशयकोशेषु येषा शमकुशेशयम् ।
ते पद्मापतिवद् वन्द्या द्विहृत्पद्मा मनीषिणः ॥८९॥

हृत्कुशेशयेति । एव योगमास्थिता सुरा वा असुरा वा इतरे वा निर्विशेष प्रशस्यन्ते । अहो । येषा हृदयमेवारविन्द तत्र विश्रान्तो शम एवारविन्दम्– ते रागद्वेषबहिर्भूता एकरसा महात्मानो वैलक्षण्येन द्विहृत्पद्मा इव लक्ष्यमाणा पद्मा-पतिपद्मनाभसमुद्भूतपद्मासनवत् कथमिव न स्पृहणीया इत्यर्थ ॥८९॥

सौहार्दहृद्ये सर्वत्र शमपीयूषवर्षिणि ।
सुजने परम तत्त्व स्वयमेव प्रसीदति ॥९०॥

सौहार्देति । इत्यनेन परतत्त्वस्य विश्रान्तिस्थान दर्शितम् ॥९०॥
एतदेव शमपुरस्कारेण प्रपञ्चयति—

शमामृतरसाच्छन्न मनो यामेति निर्वृतिम् ।
छिन्नान्यपि तयाङ्गानि मन्ये रोहन्ति राघव ! ॥९१॥
यः समः सर्वभूतेषु भाति काङ्क्षति नोज्झति ।
जित्वेन्द्रियाणि यत्नेन स शान्त इति कथ्यते ॥९२॥
बुद्ध्यापि शुद्धया बुद्ध्या यथैवान्तस्तथा बहिः ।
निर्मल वर्तमानो य स शान्त इति मन्महे ॥९३॥
शमसपन्नवृत्तीना सर्वत्र समदर्शिनाम् ।
उदेति निर्वृतिश्चित्ताज्ज्योत्स्नेव हिमदीधितेः ॥९४॥
शममममृतमहार्यमार्यगुप्त
दृढमवलम्ब्य पर पद प्रयाताः ।

विनयपर ! यथा महानुभावा-

स्त्वमपि तथा खलु सिद्धये प्रयाहि ॥६५॥

॥ इति प्रमथो द्वारपालः शमः ॥

शमामृतेत्यादि । स्पष्टम् ॥६१-६५॥

यद्यपि शमादिषु चतुर्षु एकेनान्य आक्षिप्यत इत्युक्तप्रायम् । तथापि सति शमे निर्बाधो विचार उदेतीति प्रक्रियामाश्रयन् दशभिर्विचाराख्य द्वितीय द्वारपाल प्रपञ्चयति—

शास्त्रावबोधभासिन्या धिया परमशुद्धया ।

कर्तव्यः कारणज्ञेन विचारोऽनिशमात्मनः ॥६६॥

शास्त्रावबोधेति । स्पष्टम् ॥६६॥

विचाराद् वदते शास्त्रे नयते तत्त्वमञ्जसा ।

आमयत्यन्तरे तच्च क्रमतेऽत्र निरन्तरम् ॥६७॥

विचारादिति । वदते इत्यत्र-'भासनोपसभाषा-' (पा० सू० १।३।४७) इत्यनेन, नयते इत्यत्र-'समाननोत्सञ्जनाचार्य-' (पा० सू० १।३।३६) इत्यनेन, क्रमते इत्यत्र-'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रम' (पा० सू० १।३।३८) इत्यनेन चात्मनेपदानि विशेषप्रतिपत्तये द्रष्टव्यानि ॥६७॥

शक्तिर्धृतिः स्मृतिर्ज्ञप्तिः प्रतिपत्तिः क्रिया फलम् ।

फलन्त्येतानि सर्वाणि विचारेणैव धीमताम् ॥६८॥

शक्तिरिति । शक्ति सामर्थ्यम् । धृति धैर्यम् । स्मृति स्मरणम् । ज्ञप्ति ज्ञानम् । प्रतिपत्ति स्फूर्ति । क्रिया अनुष्ठानम् । फल निष्पत्ति । फलन्ति निष्पद्यन्ते ॥६८॥

जडाजडपरिज्ञानं नेयार्थपरिवर्तनम् ।

विचारप्लवमाश्रित्य तरेत् ससारसागरम् ॥६९॥

जडाजडेति । नेयार्थ प्रतिषिद्धार्थ । विचार एव तारकत्वात् प्लव ॥६९॥

या विचारविकासिन्यो मतयो गतयो विदाम् ।
अप्सु तुम्ब्य इवापत्सु न ता मज्जन्ति वाहिताः ॥१००॥

या विचारेति । गतय अवगमा । वाहिता आश्रिता ॥१००॥

मूढमानसरूढानामवाप्य पटुरोधिनाम् ।
अविचारकरञ्जाना मञ्जर्यो वेधसूचिकाः ॥१०१॥

मूढमानसेति । अविचार एव समन्ताद् व्यथकत्वेन करञ्जा । मञ्जर्यो वल्लर्य । वेधसूचिका वेधनसूच्य ॥१०१॥

कज्जलक्षोदमलिना मदिरामदधर्मिणी ।
अविचारमयी निद्रा सुप्ता स्वप्न न सर्पति ॥१०२॥

कज्जलेति । स्पष्टम् ॥१०२॥

रामैष केवलीभाव सुविचारकृषेः फलम् ।
यत्र निष्कामतोदेति शीताशाविव शीतता ॥१०३॥

रामेति । निष्कामता वासनाराहित्यम् ॥१०३॥

उपेक्षते गत वस्तु सप्राप्तमनुवर्तते ।
न क्षुब्धो वा न चाक्षुब्धः प्राज्ञ पूर्ण इवार्णवः ॥१०४॥

उपेक्षत इति । एवलक्षणक स्थितप्रज्ञो भवतीति भाव ॥१०४॥

कोऽह कथमय दोषः ससार इति सततम् ।
यथाशास्त्र परामर्शो विचार इति कीर्त्यते ॥१०५॥

॥ इति द्वितीयो द्वारपालो विचारः ॥

कोऽहमिति । प्रकृतोपयुक्त विचारलक्षणमेतत् ॥१०५॥

॥ इति द्वितीयो द्वारपालो विचार ॥

अथ सतोषारय तृतीय द्वारपाल पञ्चभि प्रपञ्चयति—

सतोषैश्वर्यसुखिना चिरविश्रान्तचेतसाम् ।
साम्राज्यमपि शान्ताना प्रतिभाति तृणोपमम् ॥१०६॥

सतोषेति । शान्तानाम् अचलप्रतिष्ठानाम् ॥१०६॥

सतोषमुदिता प्रज्ञा राम ! ससारवृत्तिषु ।
विषमास्वप्यनुद्विग्ना न कदाचन हीयते ॥१०७॥

सतोषमुदितेति । सतोषेण मुदिता प्रसन्ना । ससारवृत्तिषु सासारिकीषु व्यवहृतिषु । विषमासु असमञ्जसासु । अनुद्विग्ना निर्बाधा । न कदाचन हीयते अपितु यथासभव चीयत एव ॥१०७॥

आत्मनात्मनि सतोष यावन्नाप्नोति मानसम् ।
उद्भवन्त्यापदस्तावल्लता इव मनोबिलात् ॥१०८॥

आत्मनेति । मन एव विषमत्वाद् विलम् गर्त । उद्धरेदात्मनात्मान नात्मानमवसादयेदिति भाव ॥१०८॥

आशाविलासविवशे चित्ते सतोषवर्जिते ।
म्लानादर्शे वक्त्रमिव ज्ञान न प्रतिबिम्बति ॥१०९॥

आशाविलासेति । निर्मले हि चन्द्रादि प्रतिफलति । व्यत्यासे तु प्रतिफलितमपि दोषाक्रान्तमिव प्रतीयत इति स्पष्टम् ॥१०९॥

नालब्धमेष्यते येन न लब्ध चाभिनन्द्यते ।
स पूर्णेन्दुरिवाऽऽपूर्णः सतुष्ट इति गण्यते ॥११०॥

॥ इति तृतीयो द्वारपालः सतोष ॥

नालब्धमिति । सतोषस्य स्वरूपप्रतिष्ठानमेतत् ॥११०॥

॥ इति तृतीयो द्वारपाल सतोष ॥

इदानीमन्तिम साधुसङ्गमाख्य मोक्षद्वारपाल सप्तभि प्रपञ्चयति—

शून्यमाकीर्णता धत्ते मृत्युरप्युत्सवायते ।
विपत्सम्पदिवाभाति राम ! साधुसमागमे ॥१११॥

शून्यमिति । साधव सन्त इति जगति सुप्रसिद्धमेवाबालाङ्गनम् । तत्र विशिष्टवाच्यार्थस्तु प्रतिश्लोक व्युत्पादित एव । य इदानीमपि शब्दगुणेनापि आस्तिकपु गवान् आश्वासयति । व्युत्पादनविधा तु–'मनुष्याणा सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये' (भ गी ७–३) इत्यादिन्यायेन दुर्लभतरतमैव । अत्र सामान्यसाधुपदार्थनिर्वचन भवभूतीयमपि न विस्मर्तव्यम् । तथाहि—

"प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियम
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीत परिचय ।
पुरो वा पश्चाद् वा तदिदमविपर्यासितरस
रहस्य साधूनामनुपधि विशुद्ध विजयते ॥"

इति । एतेषा परीक्षणा तु—

'शमदम्भ शुचिदम्भ स्नातकदम्भ समाधिदम्भश्च ।
नि स्पृहदम्भस्य तुला यान्ति न चैते शताशेन ॥'

इत्येवमादिक्षेमेन्द्रसूक्तितोऽपि सुव्यक्तम् । 'शून्यमाकीर्णता धत्ते–' यथा–सुरथ–समाध्यो सुमेधस सगमे । '–मृत्युरप्युत्सवायते' यथा भगवत श्रीदधीचस्य । 'विपत्सम्पदिवाभाति–' यथा–कुन्ती–वासुदेवयो ॥१११॥

मतेर्विकासनं सम्यङ् निष्कासनमहमतेः ।
आधेरपासन सौम्य ! साधुसङ्गमसौभगम् ॥११२॥

मतेरिति । मते –मुकुलिताया इत्यर्थ । अहमते अविद्याया । सा च पिशाचीव पुमासमात्मसात् करोति । आधे मानसव्यथाया । अपासन सुदूरनिष्कासनम् ॥११२॥

नीरागाश्छिन्नसदेहा गलितग्रन्थयोऽनघ ! ।
साधवो यदि विद्यन्ते कि तपस्तीर्थसग्रहैः ॥११३॥

नीरागा इति । वस्तुतो जन्मजन्मान्तरार्जिततपस्तीर्थसग्रहाणामेव पारमार्थिक फल तादृक् चित्तवृत्तिसमुदय इति ॥११३॥

त एते नरकाग्नीना सशुष्केन्धनता गताः ।
यैर्दृष्टा हेलया सन्तः क्लेशसतापतोयदा ॥११४॥

त एत इति । 'हरत्यघ सप्रति हेतुरेष्यत —' इत्यादिमाघोक्तच्या व्याख्यातप्रायमेतत् ॥११४॥

सतोष परमो लाभः सत्सङ्गः परमा गति ।
विचार परम ज्ञान शमो हि परमं सुखम् ॥११५॥

सतोष इति । एकैकस्य मोक्षद्वारपालस्य निष्कृष्टार्थदर्शनम् ॥११५॥

एकैकोऽपि किलैतेषा परेषा प्रसवास्पदम् ।
तस्मात् ससिद्धये धीमान् यत्नेनैक समाश्रयेत् ॥११६॥

एकैकेति । इदानीमुक्तेषु चतुर्षु एकैकस्याप्यनुष्ठान परानुष्ठानफलकमिति सक्षेपेण विनेयान् प्रति उपदिशति ॥११६॥

विचारशमसतोषसाधुसङ्गमशालिनि ।
नरे श्रियो विराजन्ते कल्पवृक्षाश्रये यथा ॥११७॥

॥ इति चतुर्थो द्वारपालः सत्सङ्गः ॥

विचारेति । एवविशेषणविशिष्टे पु सि कल्पद्रुमे श्रिय इव यथाकल्पनमुद्भवन्ति ता सर्वा सपद इति यौगिकार्थेनापि स्फुटम् ॥११७॥

॥ इति चतुर्थो द्वारपाल सत्सङ्ग ॥

इदानी वक्ष्यमाणस्यार्थस्य सुखावबोधाय दृष्टान्तमुत्थापयति—

आर्षं वा पौरुष वापि ज्ञानमज्ञाननाशनम् ।
सौरमाग्नेयमथवा तेजस्तिमिरभञ्जनम् ॥११८॥

आर्ष वेति । ऋषिर्वेदस्तत आगतमार्षम् । 'सबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' (पा० सू० १।१।१६) इत्यादौ ऋषिशब्दस्य वेदपरता प्रसिद्धैव । तथाचार्षं ज्ञान-

मीशावास्यादिवाक्यघटित फलितम् । पौरुष तु रामायणमहाभारतादिघटितम् । 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इत्यध्ययनविधिर्विशेषसत्तायामपीह फले विशेषाभाव इति भगवतो वशिष्ठस्याशय । अतएवान्यत्रापि—

'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूना त्रयी न श्रुतिगोचरा ।
इति भारतमाख्यान कृपया मुनिना कृतम् ॥'

इत्युपदिष्टम् ॥११८॥

पौरुषे अर्थवादमुत्थापयति—

अपि पौरुषमादेय शास्त्र चेद् युक्तिबोधकम् ।
अन्यत्त्वार्षमपि त्याज्य भाव्य न्याय्यैकसेविना ॥११९॥

अपि पौरुषमिति । त्याज्यमित्यस्य त्यागे न तात्पर्यमपितु सुखावबोधने शासने । अर्थवादे स्वार्थे तात्पर्याभाव इत्यन्यत्र विस्तर ॥११९॥

युक्तियुक्तमुपादेय वचन बालकादपि ।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्त पद्मजन्मना ॥१२०॥

युक्तियुक्तमिति । उक्तस्यैवोपबृ हणम् ॥१२०॥

योऽस्मत्तातस्य कूपोऽयमिति कौपीः पिबत्यपः ।
मुक्त्वा गाङ्गीः सुधाधारास्त शिष्यात् कोऽतिरागिणम् ॥१२१॥

योऽस्मदिति । 'तातस्यकूपोऽयमिति ब्रुवाणा क्षार जल कापुरुषा पिबन्ति' इत्येवजातीयकेनाभाणकेन सुप्रसिद्धमेतत् ॥१२१॥

उक्तमर्थंसदृष्टान्त विनेये भगवति सक्रामयति—

दृष्टान्तेन विना राम ! नापूर्वार्थोऽवबुध्यते ।
प्रदीपमन्तरा नक्त प्रदर्शनगृह यथा ॥१२२॥

दृष्टान्तेनेति । अत्र—'लौकिकपरीक्षकाणा यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्य स दृष्टान्त' (न्या० द० १।१।२५) इत्यक्षपादीय सूत्रम् ॥१२२॥

दृष्टान्ते हेयाश विशदयति—

यैर्यै राघव ! दृष्टान्तैस्त्व मयात्र प्रबोध्यसे ।
सर्वे सकारणास्ते हि प्राप्य तु सदकारणम् ॥१२३॥

यैर्यैरिति । सत् परमार्थसत्यम् । अकारण नित्यम् । अप्रयोजकैरेव मृत्सुवर्णाद्युपादानैर्दृष्टान्तै सद् ब्रह्म कारण बोध्यते । तथाच जन्यत्वादयो दृष्टान्तधर्मा दार्ष्टान्तिके ह्युपेक्ष्या ॥१२३॥

उपमानोपमेयाना कार्यकारणसगतिः ।
वर्जयित्वा परब्रह्म सर्वेषामेव वर्तते ॥१२५॥

उपमानेति । यथा विचारादिभिर्बिम्बग्राहक ज्ञानमुत्पद्यते इत्युच्यते तथा ज्ञानाद् बिम्बमुत्पद्यते इति न वक्तव्यम्—ब्रह्मण उत्पत्तेर्वक्तुमशक्यत्वात् ॥१२४॥

ब्रह्मोपदेशे दृष्टान्तो यस्तवेह निरूप्यते ।
एकदेशमधर्मत्वं तत्रान्तः परिगृह्यते ॥१२५॥

ब्रह्मोपदेशेति । एतदुक्त भवति—जगद्विवर्त ब्रह्माधिष्ठानबोधने भुजङ्ग विवर्ताधिष्ठानबोधकरज्जुदृष्टान्तस्याधिष्ठानविवर्ताशमात्रेण दृष्टान्तत्व न तु दार्ष्टान्तिकनित्यत्वसुखित्वादिसर्वांशेन ॥१२५॥

यो यो नामात्र दृष्टान्तो ब्रह्मतत्त्वावबोधने ।
दीयते स स बोद्धव्यः स्वप्नभूतो जगद्गतः ॥१२६॥

यो य इति । स्वप्नजात इव मिथ्याभूतो जगदन्तर्गत एव न वास्तव ॥१२६॥

एव सति निराकारे ब्रह्मण्याकारवान् कथम् ।
दृष्टान्त इति नोद्यन्ति मूर्खवैकल्पिकोक्तयः ॥१२७॥

एव सतीति । एव दार्ष्टान्तिके दृष्टान्तधर्माभावे सति विकल्पोक्तीनामनवकाश ॥१२७॥

अन्यासिद्धविरुद्धादिदृशां दृष्टान्तदूषणैः ।
स्वप्नोपमत्वाज्जगतो न किंचिदपि हीयते ॥१२८॥

अन्यासिद्धेति । अन्येषाम् असिद्धविरुद्धादिदोषदृशा तार्किकाणा दृष्टान्तप्रदूषणैर्दूष्यस्य हेत्वादेर्जगत स्वप्नोपमत्वाद् वस्तुनि न किंचिद् दूषण समुदेतीत्यर्थ ॥१२८॥

अवस्तु पूर्वापरयोर्वर्तमानेऽपि तादृशम् ।
यथा जाग्रत् तथा स्वप्नः सिद्धमाबालमागतम् ॥१२९॥

अवस्त्विति । पूर्वापरयो उत्पत्तिविनाशपूर्वोत्तरकालयो । अवस्तु अभावग्रस्तम् । वर्तमानकालेऽपि ॥१२९॥

स्वप्नसङ्कल्पनाध्यानवरशापौषधादिभिः ।
यथार्था इह दृष्टान्तास्तद्रूपत्वाज्जगत्स्थितेः ॥१३०॥

स्वप्नेति । जाग्रति कार्याकार्यत्वेन सदिग्धयात्रादौ देवताप्रार्थनादिना शयानस्य स्वप्ने कार्यमिति सकल्पोदये तथा चिन्तने चिन्तनोपलक्षितचिरकालपूजामन्त्रजपस्तुत्यादिना तदनुकूलवरलाभे शत्रूणा मुनिशापादिदर्शनेन वा प्रातर्यात्रादिकरणे शत्रुजयादिदर्शनात् स्वाप्नौषधलाभेन जागरे रोगशान्तिदर्शनाच्च तत्साम्येन सर्वजगत्स्थितेरपि तद्रूपत्वात् स्वप्नदृष्टान्ता यथार्था ॥१३०॥

स्वप्नाभत्व तु जगतः श्रुते शास्त्रेऽवधार्यते ।
न सद्यः पार्यते वक्तुं वाकिल क्रमवर्तिनि ॥१३१॥

स्वप्नाभेति । तथा च स्वप्नवदाभासमानमिद जगच्चक शास्त्राद्युपायमन्तरा न केवलया वाचा प्रतिपत्तु सुशकमितिभाव ।

अकारणे कारणता यद्बोधायोपमीयते ।
न तत्र सर्वसाधर्म्यं सभवत्युपमागुणे ॥१३२॥

अकारणेति । यदि जगति स्वप्नाद्युपमाने सर्वांशेऽपि साधर्म्यं विवक्षित तर्हि ब्रह्मण्यपि कटकमुकुटाद्युपादानस्वर्णदृष्टान्ते तद्वदेव परिणामिता कुतो न विवद्यते ॥१३२॥

उपमेयस्योपमानादेकांशेन सधर्मता ।
अङ्गीकार्याऽवबोधाय निर्विवाद सुबुद्धिना ॥१३३॥

उपमेयेति । उक्तार्थस्यैव विशदीकरणम् ॥१३३॥

दृष्टान्तस्यांशमात्रेण बोध्यबोधोदये सति ।
उपादेयतया ग्राह्यो महावाक्यार्थनिश्चयः ॥१३४॥

दृष्टान्तेति। अंशमात्रेण उपादेयलेशमात्रेण। उपादेयतया ग्राह्यतया। महावाक्यानि 'तत्त्वमसि' इत्यादीनि।'

न कुतार्किकतामेत्य नाशनीया प्रबुद्धता।
अनुभूत्यपलापान्तैरपवित्रैर्विकल्पितैः ॥१३५॥

॥ इति दृष्टान्तनिरूपणम् ॥

न कुतार्किकेति। नैषा तर्केण मतिरपनेया (कठो० उप० ३।६) इत्याद्युपनिषद्वाक्यैः कुतर्केष्वनास्थाप्रतिपादनात् यथारुचि नियमासंभवाच्चेति तात्पर्यम्।

॥ इति दृष्टान्तनिरूपणम् ॥

विशिष्टांशसधर्मत्वमुपमानेषु गृह्यते।
को भेदः सर्वसादृश्ये तूपमानोपमेययोः ॥१३६॥

विशिष्टांशेति। विशिष्टो विशेषेण प्रतिपादयितुं विवक्षितो योंऽशः तेनैव सधर्मत्वं सर्वत्रोपमानेषु गृह्यते। अन्यथा—'गौरिव गवयः' इत्यादौ जात्यादिनापि सादृश्यविवक्षाया भेदाभावादुपमानमात्रोच्छेदः स्यादित्यर्थः ॥१३६॥

दृष्टान्तबुद्धावेकात्मज्ञान-शास्त्रार्थवेदनात्।
महावाक्यार्थसंसिद्धा शान्तिर्निर्वाणमुच्यते ॥१३७॥

दृष्टान्तेति। तत्त्वपदार्थशोधनोपयोगि तत्तद्दृष्टान्तबुद्धौ सत्याम् एकमद्वितीयं यज्ज्ञानस्वरूपमात्मतत्त्वं तदेव शास्त्रार्थः तस्य वेदनाद् अवबोधात् ॥१३७॥

शान्तिं श्रेयः परं विद्धि तत्प्राप्तौ यत्नवान् भव।
भोक्तव्यमशनं प्राप्तं किं तत्सिद्धौ विकल्पनैः ॥१३८॥

शान्तिमिति। विकल्पनैः विकल्पावतरणैः ॥१३८॥

तावद् विचारयेद् यावत् तुर्यविश्रान्तिमाप्नुयात्।
प्राप्तविश्रान्तिसंपत्तु निर्मन्दर इवाम्बुधिः ॥१३९॥

तावदिति। एतावत्येव विचारस्येयत्तेति ॥१३९॥

एकांशेनोपमानानामुपमेयसधर्मता ।
बोद्धव्यं बोध्यबोधाय न भाव्य बोधचञ्चुना ॥१४०॥

एकांशेनेति । बोधचञ्चुना लोकेषु आत्मख्यात्यै ज्ञानध्वजिना न भवितव्यमित्यर्थ ॥१४०॥

अनुभूतेर्वेदनस्य प्रतिपत्तेर्यथाभिधम् ।
प्रत्यक्षमिति सञ्ज्ञेह कृता जीवः स एव नः ॥१४१॥

अनुभूतेरिति । प्रकाशात्मना भवनम् अनुभूति । वेद्यस्य प्रकाशन वेदनम् । अनुभव वेद्य-वेत्तृलक्षणस्य त्रितयस्य व्याप्ति प्रतिपत्ति । शेष स्पष्टम् ॥१४१।

स एव सवित् स पुमानहंताप्रत्ययात्मकः ।
स ययोदेति सन्नित्या सा पदार्थ इति स्मृता ॥१४२॥

स एवेति । साक्षी वृत्त्युपाधौ सवित् । अहताप्रत्ययात्मा पुमान् प्रमाता स एव यया विषयाकारवृत्त्या बाह्यावरणभङ्गे आविर्भवति सा पदार्थो विषय इति ॥१४२॥

एव व्यष्टौ उपपाद्य समष्टौ हिरण्यगर्भेऽपि दर्शयति —

स सकल्पविकल्पाद्यैः कृतभूरिक्रमभ्रमैः ।
जगत्तया स्फुरत्यम्बु तरङ्गादितया यथा ॥१४३॥

स सकल्पेति । तरङ्गादितया अम्बुवत् स एव पदार्थ जगत्तया स्फुरतीति तात्पर्यम् ॥१४३॥

प्रागकारणमेवाशु सर्गादौ सर्गलीलया ।
स्फुरित्वा कारण भूतं प्रत्यक्ष स्वयमात्मनि ॥१४४॥

प्रागकारणमिति । तत्साक्षिप्रत्यक्ष प्राक् सर्गादौ सृष्टे प्राग् अकारण कारणान्तरशून्यम् एव सर्गलीलया सृष्टिप्रपञ्चेन स्फुरित्वा प्रादुर्भूय आत्मनि सर्गभावापन्ने । स्वस्मिन्नेवेत्यर्थ । स्वयमेव कारण भूत जातमित्यर्थ. ॥१४४॥

कारण त्वविचारोत्थ जीवस्यासदपि स्थितम् ।
सदिवास्या जगद्रूपं प्रकृतौ व्यक्तिमागतम् ॥१४५॥

कारणमिति। जीवस्य अजन्यत्वाद् असदिव स्थित कल्पितम्। इवेत्य-नास्थायाम्। अतएव अविचारोत्थ कारण तु अस्या प्रकृतौ प्रकृतिलक्षणे स्वभावे सदिव कार्यत्वेन जगद्रूप व्यक्ति प्रकाशताम् आगतम्। यद् वस्तु सृष्टे प्राक् सूक्ष्मतया असदिव मध्ये प्रादुर्भावेन सदिव व्यवह्रियमाण पर्यन्ते प्रलयावस्थया पुन सूक्ष्मत्व दधत् तद् इत्थमेवोन्नेतु शक्यमिति परमार्थ। एव लक्षणक्रमेव वस्तु आदावन्ते च प्रतिपत्तिशून्य निर्दिश्य मध्येऽपि तथा विलक्षण निर्दि-श्यते ॥१४५॥

स्वयमेव विचारस्तु स्वत उत्थ स्वक वपुः।
निघत्य घटयत्याशु प्रत्यक्ष परमं महत् ॥१४६॥

स्वयमिति। आत्मनि तु स्वयमेव विचारो विमर्शलक्षण यथासकल्प स्वत उत्थ स्वक वपु विघत्य अन्त करणज्ञानकर्मेन्द्रियै सयुज्य परम महत् प्रत्यक्ष भोग्यभावम् आशु घटयति सपादयतीति तात्पर्यम् ॥१४६॥

विचारवान् विचारोऽपि यदात्मान प्रबोधते।
तदा राम! निरुल्लेखं परमेवावशिष्यते ॥१४७॥

विचारवानिति। यदा विचारोऽपि विचारवान् सन् आत्मान प्रबोधते अभेदतया अवगच्छति। बुधिर् अवगमने। हे राम! तदा निरुल्लेखम् अवि-कल्पित पर वस्तु एव अवशिष्यते केवलीभावेनावतिष्ठते ॥१४७॥

इदानीं सिंहावलोकनन्यायेन दैवनिराकरण स्मारयन् पौरुषस्य प्राधान्यम् उट्टङ्कयति—

स्वयत्नमात्रे रघुराजसूनो!
त दैववाच्यार्थमपास्य दूरे।
आसाद्यतेऽन्तः परम पद तत्
स्वपौरुषेणैव नहीतरेण ॥१४८॥

स्वयत्नेति। गीतोपनिषत्स्वपि अष्टादशे—'दैव चैवात्र पञ्चमम्' इत्यनेन चतुर्भि पञ्चमस्य दुर्बलत्व व्यक्तमेवेति स्पष्टम् ॥१४८॥

विदन् द्विजाग्र्यो हि मुनित्वमीयात्
तद् बाहुजन्मा जनकत्वमीयात् ।
वणिक् तुलाधारसमत्वमीयाज्-
जनश्च शूद्रोऽपि च मुक्तिमीयात् ॥१४६॥

विदन्निति । प्राग्व्याख्यातमेतत् ।

तातश्रीसरयूप्रसादचरणस्वर्वृत्तसेवापरो
मातृश्रीहरदेव्यपारकरुणापीयूषपूर्णान्तरः।
साकेतापरभागबद्धवसतिर्दुर्गाप्रसादः सुधी-
रास्ते तेन कृतेऽत्र रामचरिते गुच्छस्तृतीयो गतः॥१५०॥

इति श्रीमति रामचरिते वासिष्ठनिर्यासे मुमुक्षुप्रकरण नाम द्वितीयो-गुच्छकः । आदितस्तृतीयः ॥

अथ चतुर्थो गुच्छकः ।

अथ सृष्टिप्रकारनिरूपणपुरस्सरं 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यागमानुभवयुक्तियुक्तं ब्रह्माद्वैतं प्रतिपादयितुं प्रकरणमवतारयति–

वाग्भाभिर्ब्रह्मविद् ब्रह्म भाति स्वप्न इवात्मनि ।
यदिदं तत् स्वशब्दोत्थैर्यो यद् वेद स वेद तत् ॥१॥

वाग्भाभिरिति । वाचां 'तत्त्वमसि, ब्रह्माहमस्मि' इत्याद्युपनिषत्सारभूतानां द्वादशमहावाक्यानां, भाभिः स्वरूपप्रकाशैः । आत्मनि प्रत्यगात्मनि । स्वप्न इव भाति आविर्भूतं चकास्ति । स्वशब्दोत्थैः, स्वशब्दोत्थाश्च ब्रह्मणः स्वरूपप्रतिपत्तये क्रियमाणाः श्रवणमनननिदिध्यासनादिरूपा उपायाः, तैः । यद् वेत्ति, यादृशं ब्रह्म तत्त्वतः साक्षात्करोति । तद् वेद, तादृशमेव पूर्वानुभूतं सर्वस्मिन्नपि काले हृदयान्तः स्फुरति । इदमत्र तात्पर्यम्–

ब्रह्मातिरिक्तं न किमपि वस्तु इह परमार्थसद् भवितुमर्हति । 'आत्मैवेदं सर्वमित्यादि श्रुतिशासनाद् अनुभवसंवादाच्च । यच्चेदमनन्तप्रकारायमाणैर्वैचित्र्यप्रपञ्चैरुल्लसितम् असदपि सदिव प्रतीयमानं जगत्, तत्सर्वं स्वप्न इव आत्मन्यध्यस्तं केवलं कल्पनामात्रसारम् । इत्येवंरूपेण सकृदपि संजाते दृढप्रत्यये न कदाचिदपि मुमुक्षोरात्मस्वरूपबोधहानिप्रसङ्गः, न वा ज्ञातपरमार्थस्य तस्य मुक्तिसमयावधि स्वस्वरूपात्प्रच्यावः, ब्रह्मविषयकः संदेहप्ररोहो वा कथंचिदपि संभवति । 'सकृद्विभातोऽयमात्मे'-त्यादिश्रुतीनामप्यत्रार्थे एतदेव रहस्यम् ॥१॥

द्वाभ्यां बन्धस्वरूपं निर्दिशति–

बन्धोऽयं दृश्यसद्भावाद् दृश्याभावे न बन्धता ।
दृश्यं त्वसंभवद् राम ! यथेदं तच्छृणु क्रमात् ॥२॥
य एवोत्पद्यते कश्चित् स एव परिवर्तते ।
उत्पत्तिः संसृतावेति प्रागभ्यात्मा तु शाश्वतः ॥३॥

बन्धोऽयमिति । बन्धः स्वस्वरूपानवमर्शः, मायाव्यामोहितत्वमिति वा । तथाच सांख्याः–प्रकारान्तरासंभवादविवेक एव बन्धः' (सां० सू० ६।१६) । परमार्थतो नात्मनि दृश्योत्पत्तेः पूर्वं परतो वा विकृतेः कुतश्चन संभवः । तथा च श्रुतिः–

'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधक ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्तिरित्येषा परमार्थता ।।'

इति । दृश्य जगदाद्यात्मना भासमानो वेद्यवर्ग । स्मरन्ति च शास्त्रकृत –

'यदिद दृश्यते किंचिद् दर्शनात् तन्न भिद्यते ।
दर्शन द्रष्टृतो नान्यद् द्रष्टैव हि ततो जगत् ।।'

इति । अथ दृश्यपदार्थ –"द्रष्टृदृश्ययो सयोगो हेयहेतु,' 'प्रकाशक्रिया स्थितिशील भूतेन्द्रियात्मक भोगापवर्गार्थं दृश्यम्', द्रष्टा दृशिमात्र शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य," (यो० द० २ पा० १७–१८, २०) इत्यादिसूत्रैर्योगदर्शने प्रपञ्चित ।।२।।

य एवोत्पद्यत इति । ससृतौ ससरणदशायाम् । ससरण च–जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यतीति षड्भावविकारनेमियुक्तम् । प्रागभ्यात्मा प्रत्यक्चेतन । शाश्वत शश्वद्भव, अण् ।।३।।

यदेतद् दृश्यते सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
तत् सुषुप्ताविव स्वप्नः कल्पान्ते प्रविनश्यति ।।४।।

यदेतदिति । स्थावर जङ्गमादितरद् । कल्पान्ते कल्पप्रलये । सुषुप्तौ, जीवस्य ज्ञानशून्यावस्थायाम् । उपनिषत्स्विय सुषुप्तिरेव विवृता–

'यत्र सुप्तो न कचन कामं कामयते, न कचन स्वप्न पश्यति ।'
(बृ०उ० ४।३।१९)

'यत्रैतत्पुरुष सुप्त स्वप्न (स्वप्नसृष्टफल) न कचन पश्यति ।'
(कौषी० उ० ३।३)

'तद् यत्रैतत्सुप्त समस्त सप्रसन्न स्वप्न न विजानाति ।'
(छा० उ० ८।६।३)

अन्यत्रापि–

"अक्षैर्योऽर्थग्रह पुसा तज्जाग्रदिति कथ्यते ।
यत्तैर्विनार्थस्मरण मनसा स्वप्नसञ्ज्ञितम् ।।
यत्रार्थस्मरणे न स्तस्तत् सौषुप्तमिति स्मृतम् ।
शुद्धबोधैकरूपो योऽवस्थात सैव तुर्यता ।।"

इति ।।४।।

ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत् किंचिदवशिष्यते ॥५॥

तत इति । स्तिमितम् अमूर्तत्वान्निष्क्रियम् । गम्भीरं परिच्छेदानर्हम् । न तेज, नीलपीतादिरूपविरहात् । न तम, प्रकाशैकधर्मत्वात् । अनाख्यम्, निर्धर्मकतया इदमित्थमिति निर्देष्टुमशक्यम् । अनभिव्यक्तम्–स्वानुभवैकगम्यतया बाह्यप्रमाणानामगोचरम् ॥५॥

ऋतमात्मा परं ब्रह्म सत्यमित्यादिनामभिः ।
शब्द्यते व्यवहारार्थं तत् सदेव महेश्वरः ॥६॥

ऋतमात्मेति । आत्मनो निर्वचनं तु–

'यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह ।
यच्चास्य सततो भावस्तस्मादात्मेति शब्द्यते ॥'

इति व्यासानुशिष्टमिह द्रष्टव्यम् । ब्रह्म, बृहत्त्वाद् बृंहकत्वाद् वा । व्यवहारश्च उपदेश्योपदेशरूप, तदर्थम् । नहि संज्ञाकरणमन्तरा व्यवहार कश्चन घटते । लोकेऽपि देवदत्तादिपदव्यपदेश्या हि व्यवहारभाजो भवन्तीति ॥६॥

स तथाभूत एवात्मा स्वयमन्य इवोल्लसन् ।
जीवतामुपयातीव वीचितामिव वारिधिः ॥७॥

स तथेति । तथाभूत चित्स्वभावतया स्थितोऽपि मुग्ध सन् अन्य, आकाशादिक्रमोद्भूतलिङ्गसमष्ट्यात्मा जड, स इव उल्लसन्, तदनुप्रवेशात् तदभिमानेन प्राणधारणाद्युपाधिना देहत्वमनुप्रविष्ट जीवताम् उपयाति इव, जीवव्यवहार प्रतिपद्यत इव । वस्तुतस्तु इदं विभ्रमविजृम्भितमेवेति इवोपादानात सूचितम् । दर्शनान्तरेऽपि —

'देहप्राणविमर्शनधीज्ञाननभ प्रपञ्चयोगेन ।
आत्मानं वेष्टयते चित्रं जालेन जालकार इव ॥' (परमार्थसार ३२) इति ॥७॥

ततः स जीवशब्दार्थकलनाकुलतां वहन् ।
मनो भवति भूतात्मा मननान्मन्थरीभवन् ॥८॥

तत इति । क्रियाशक्तिप्रधान प्राणधारणमेव जीवशब्दार्थ । तत् कलनेन आकुलता चञ्चलताम् । भूतात्मा भौतिकलिङ्गात्मा । मननात् सकल्पविकल्परूपात् । मन्थरीभवन् जाड्येन मन्दीभवन् । मनो भवति परमात्मभाव विस्मृत्य मन सपद्यते । मनो धर्मानपि सकल्पादीन् आत्मन एव मन्यत इति भाव ।।८।।

तत् स्वयम् स्वैरमेवाशु सकल्पयति नित्यश ।
तेनेत्थमिन्द्रजालाभ जगदेतद् विवर्तते ।।९।।

तदिति । तदेव समष्टिमनोभावमापन्न हिरण्यगर्भाख्य ब्रह्म, स्वयम् अन्येन अबोधितमपि पूर्ववासनानुरोधाद् विराड्भाव, भुवनादिभाव तत्र च चतुर्विधभूतग्रामभावमिति नित्य स्वैरमेव सकल्पयतीति स्पष्टार्थ । तेन सत्यसकल्पेन इन्द्रजालाभम् इन्द्रजालोपमम् । विवर्तते अतत्त्वत अन्यथा प्रथते ।।९।।

यथाहि हेम्नः कटक न पृथग्भावमश्चति ।
कटकान्न च हेमापि ब्रह्मणीद तथा जगत् ।।१०।।

यथाहीति । हेमकटकरूपात् काचनात् कटकशब्दार्थो यथा न पृथग्भाव भजते तथा ब्रह्मणि प्रतिभात जगदपीद न पृथग्भावमञ्चति । तदेवम् अध्यारोपशतैरपि नाधिष्ठानस्य पारमार्थिकी स्थितिर्भज्यत इति वस्तुपरमार्थ ।।१०।।

पर जगति न ब्रह्म हेम्नीव कटकात्मता ।
सैकतोस्रेण वारीव मनसैतज्जगद्भ्रमः ।।११।।

पर जगतीति । सैकतोस्रेण मरुमरीचिकया । सैकत सिकतामयम्—किरणोस्रमयूखाशु —इत्यमर ।।११।।

अविद्या ससृतिर्बन्धो माया मोहो महत्तम ।
इत्यज्ञानस्य पर्यायाः कथिता मर्मवेदिभिः ।।१२।।

अविद्येति । विद्यापोह्यत्वादविद्या । ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्ससरणाद्धेतो ससृति । स्वातन्त्र्यविघटकत्वाद् बन्ध । मिथ्यात्वान् माया, विश्वमोहकतया वा । मीयते परिच्छिद्यते प्रमातृप्रमेयप्रपञ्चो ययेति वा । भ्रमहेतुत्वान्मोह । दुस्तरत्वान्महत् । स्वरूपावरकत्वात् तम इति ।।१२।।

बन्धमोक्षयो स्वरूपमाह द्वाभ्याम्—

द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्तैव बन्ध इत्यभिलप्यते ।
द्रष्टा दृश्यबलाद् बद्धो दृश्याभावे तु मुच्यते ॥१३॥
जगत्त्वमहमित्यादिमिथ्यात्मा दृश्यमुच्यते ।
यावदेतत्सम्भवति तावन्मोक्षदशा क्व च ॥१४॥

द्रष्टुरिति । जगत्त्वमहमिति च । स्पष्टार्थो ॥१३-१४॥

नेदं नेदमितिव्यर्थप्रलापैर्नोपशाम्यति ।
सङ्कल्पजनकैर्दृश्यव्याधिः प्रत्युत दीप्यते ॥१५॥
जगद्दृश्य तु यद्यस्ति न शाम्यत्येव कस्यचित् ।
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥१६॥

नेदमिति । जगद्दृश्यमिति च । दृश्यसद्भावे, नेदं नेदमित्युपेक्षया कथञ्चिदेकस्य निराकरणेऽपि परं प्रसज्जते, ततोपीतर इत्येव दृश्यपरपराया यथोत्तरं प्ररोह, तस्मान्न केवलया वाचा बाध यावद् विचार सहकारेणैवेति । दृश्यव्याधि -दृश्यमेव व्याधि, दृश्य वा व्याधिरिवेति । पूर्वत्र मयूरव्यंसकादित्वात्समास परत्र च उपमितसमास । व्याधिरिव दृश्योच्छेदो न सुकर इति भाव । दीप्यते दीपदीप्तौ-भावे लट् ॥१५-१६॥

मोक्षे प्रतिबन्धकान् हेतूनाह—

अचेत्यचित्स्वरूपात्मा द्रष्टा यत्रैव तिष्ठति ।
तत्रैवैतस्य दृश्यश्री समुदेत्यप्यणूदरे ॥१७॥

अचेत्येति । अचेत्य बोद्धुमशक्य चित्स्वरूप आत्मा यस्य, एतादृश । अज्ञातात्मेति यावत् । यत्रैव दृश्यसमावेशायोग्ये परमाणूदरादावपि तिष्ठति स्थिति लभते । तत्रैव एतस्य आत्मन दृश्यश्री दृश्यबीज समुदेति प्रादुर्भवति । अणूदरे-अणु पूर्णाहंभावशून्य सङ्कुचितमन्यो जीव, तस्य उदरे उदरकोटरे- इति । यत्र क्वापि एवभूतप्रदेशे तिष्ठन्नेतेनावश्य परिभूयते ॥१७॥

जगत्प्रतिफलत्येवमादर्श इव चित्यपि ।
जन्ममृत्युरुजाकीर्णा ततो दु खपरंपरा ॥१८॥

जगत्प्रतीति । आदर्श इव यथा मुकुरतले सर्वं साक्षात् क्रियते, एव चित्यपि परमाणूदरेऽप्यात्मनि ब्रह्माण्डान्त समावेश सभवत्येव । न तत्र प्रदेशाकृत प्राचुर्यं सकोचो वा अनुरुध्यत इति ॥१८॥

इद प्रमार्जित दृश्य मयात्राहमवस्थितः ।
एतदेवाक्षय बीज समाधौ ससृतिस्मृतेः ॥१९॥

इदमिति । प्रमार्जित ज्ञाननिरपेक्षेण सविकल्पकेन समाधिना दूरोत्सारितम् । समाधौ-समाधिश्च 'तदेवार्थमात्रनिर्भास स्वरूपशून्यमिव समाधि' (यो० द० ३।३) इत्येवरूप, तस्मिन् । समाधिस्थश्चेत् ससृतिं स्मरति, तदा समाधेरेव भङ्ग । अस्मृता सा नैव माष्टुं शक्यते । एतदेव चास्य दृश्यस्य अक्षय बीजम्-यन्मूलको दीर्घदीर्घतर ससरणव्यापार ॥१९॥

सति दृश्ये कुतो राम ! निर्विकल्पसमाधिता ।
समाधौ चेतनत्व च तुर्यत्व चोपपद्यते ॥२०॥

सति दृश्यते । दृश्यसत्ताया निर्विकल्पक समाधिरेव न घटते, कुतस्तेन मार्जनम् । सत्यपि वा तस्मिन् चित्तसत्त्वे चेतनत्व, तस्याप्युपरामे तुरीयावस्था चेति न समाधिरत्र प्रभवतीति व्यक्तम् ॥२०॥

सुषुप्तान्त इवैतस्मिन् व्युत्थाने दुःखदर्शनात् ।
भूयोऽनर्थपरिक्लिष्टे क्षणसाम्ये हि किं सुखम् ॥२१॥

सुषुप्तान्तेति । व्युत्थान विरुद्धमुत्थानम् । 'प्रादयो गता' (वा० २।२।१८) इति समास । 'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय (यो० द० ३।३६) एतदभिप्रेत्योक्तम्—

"द्रव्यमन्त्रक्रियाकालशक्तय साधुसिद्धिदा ।
परमात्मपदप्राप्तौ नोपकुर्वन्ति काश्चन ॥
सर्वेच्छालाभसशान्तावात्मलाभोदयो हि य ।
स कथ सिद्धिवाञ्छाया मग्नचित्तेन लभ्यते ॥" इति ॥२१॥

न च पाषाणताप्रख्या रूढिं प्राप्ता समाधय ।
भवन्त्यग्रपद शान्त चिद्रूपमजमव्ययम् ॥२२॥

न च पाषाणेति । पाषाणताप्रख्या अश्मशकलकल्पा, अनात्मभूता इत्यर्थः । रूढिं प्रसिद्धिम् । अजम्–न जायते इत्यजः । ड । तम् । अव्ययम्–न व्येति यत् तत् । 'एरच्' इत्यच् । अग्रपदं मोक्षरूपम् । न भवन्ति न जायन्ते ॥२२॥

तस्माद् यदीदं सद् दृश्यं तन्न शाम्येत् कदाचन ।
शाम्येत् तपोजपध्यानैरिति मन्दविचारणा ॥२३॥

तस्मादिति । तदित्थं सतो दृश्यस्योपशमः सर्वथा असंभवी । शाम्येत्–प्रशमं यायात् । शमु उपशमे । संभावनायां लिङ् । मन्दविचारणा–मन्दानां मन्दा वा विचारणेति चेत्युभयथा योज्यम् । स्वात्मज्ञानलाभे नियतिशक्तिसमुत्थं जपध्यानयज्ञादिकं नोपायतया क्रमत इत्याशयः । भगवद्गीतास्वपि–'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ॥' (११–५३) इति ॥२३॥

प्रलीनारोहसंतानं यथा पद्माक्षकोटरे ।
जागर्ति पद्मिनीबीजं तथा द्रष्टरि दृश्यधीः ॥२४॥

॥ इति बन्धहेतुदर्शनम् ॥

प्रलीनेति । प्रलीनं सूक्ष्मतयान्तर्गूढं, आरोहस्य संतानं प्रसवो यस्मिन्–तत् । पद्मिनीबीजम्–पद्मिनी कमलिनी तस्या बीजम् उपादानभूतम् । जागर्ति–आस्ते । द्रष्टरि प्रमातरि, दृश्यधी– दृश्यसहिता धीः बुद्धि–मध्यमपदलोपी समासः ॥२४॥

॥ इति बन्धहेतुदर्शनम् ॥

कामकर्मवासनासंभृतया अविद्यया उपहित आत्मैव जगद्बीजं मृत्युबीजं च, विद्यया तद्बीजनिष्ठायाः शक्तेर्दाहे न मृत्युवशो भवतीति प्रागुक्तं–तत्र जगतः सर्गे प्राथम्यमुपगतस्य आकाशतत्त्वस्य शोधनमुखेन वक्ष्यमाणार्थे आख्यायिकामुपन्यस्यति—

भो ! एवं किलाख्यायते—आसत आकाशजो नाम विप्र । यस्य-चिरजीवितां विलोकयन्मृत्युर्मीमांसामास– मया खलु क्रमेण कृत्स्नानि

भूतान्यघत्सत, दृषदि कृपाणधारेवात्र मम शक्तिः कुण्ठतीति तेन पृष्टो यम ऊचिवान् । मृत्यो ! अल स्वपौरुषावहेलनेन । एष आकाशज आकाश एव, नास्य कानिचिन्निधनकारणानि कर्माणि, न चाजाताकृते-रिवास्य प्राक्तनैः कर्मभि सह किंचिदपि श्लेष, तत एवास्य नावश मान-सम्, न चानेन मनागपि क्रियते, यत्पुनरस्य प्राणस्पन्दः कर्मानुमीयते तदत्र न कमधीः, पयसि द्रवत्वमिव नभस्वति स्पन्दनत्वमिव विहायसि शून्यत्वमिवैष परमे पदे तिष्ठन् स्वकारणाभिन्न स्वयभू. कथमिव गृह्यते ॥२५॥

भोः एव किलेति । किलेति वार्तायाम् अव्ययम् । आकाशज –आका-शाद् ईषत्प्रकाशाद् ब्रह्मणो जात, लिङ्गसमष्ट्यात्मा हिरण्यगर्भ । चिरजीविताम्–चिरजीविनो भाव, ताम् । मृत्युवशेगो न भवतीति यावत् । मीमासामास=विचा-रयामास । मानपूजायामिति धातो –'मानेर्जिज्ञासाम्' (वार्ति०) इति जिज्ञासार्थे–'गुप्तिजकिद्भ्य सन्' (पा० सू० ३।१।५)–'मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्या सस्य' (पा० सू० ३।१।६) इति सूत्राभ्या सनि अभ्यासदीर्घे च मीमास धातु । तत कर्तरि लिट् । अघत्सत अद्यन्तेस्म । अद भक्षणे इत्यस्मात् कर्मणि लुङ् । ऊचिवान् उक्तवान् । वच धातो क्वसुप्रत्यय । नास्य कर्माणि–प्रारब्धा-धिकारफलाना फलारम्भेनैव विनाशात्, सचिताना ज्ञानेन बाधात्, आगामिना बीजाभावान् नास्य कर्मानुषङ्गि निधनम्–इति भाव । अजाताकृते –अनुत्पन्ना-कारस्य इव । प्राक्तनै श्लेष इति–प्राक्तनै पुराभवै श्लेष सम्बन्ध । तथाच सूत्रम्–'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशाविति' (ब्र० सू० ४।१।१३)। तत मानसम्–पूर्वदेहस्पन्दवासनावशो हि चित्तस्पन्द स च नास्त्येवेतिभाव । न चा क्रियते । तथाचाय परब्रह्मस्वभावे एव स्थितो न दृश्यस्वभावे । प्राणस्पन्द –स्पन्दन स्पन्द –स्पदि किंचिच्चलने । प्राणस्य स्पन्द क्रियौन्मु-ख्यम् ॥२५॥

भगवन् ! कृतान्त !! शून्यात् कथमुपमुत्पन्न इति मृत्युना पृष्टो यम. पुनरुचे— अय ब्राह्मणो न कदाप्यजनि न वा नास्ते महाप्रलय-वेलाया केवल चिन्मात्र सतिष्ठते । तदनु येनास्य सवित्स्वभावत्वात्

पुरस्तान्महन्महो देहोऽहमिति चेतति तेनैव काकतालीयवद् भ्रान्तमाकार पश्यति द्रष्टा । स चाय तदानीमम्बरान्तरे निर्विकल्पश्चिदाकाशरूपो विज्ञानघन एवातत आस्थित ॥२६॥

भगवन्निति । निर्विकारस्य शून्यस्य विकार, अजस्य जन्म, सता पृथिव्यादीनामसत्त्व च यदुच्यते तत्कथ शक्यसभवमिति सदिहानो मृत्युराचष्टे-भगवन्निति । अथ ब्राह्मणो अजनीत्यादिना यम प्रतिवक्ति-न वय शून्यत्वाभिप्रायेण परस्य आकाशत्व पृथिव्यादीना चासत्त्वमभिदध्म किंतु कारणात् पृथक् कार्यस्य सत्त्वैव नाङ्गीक्रियते । एवम् अजस्योत्पत्तिकथनमपि विवर्ताभिप्रायेण न परिणामबुद्ध्या । ततश्च अथ द्विज परमार्थत केवलविज्ञानभामात्रम्, ततश्च स तथैव सदास्थितो न विकृत । महाप्रलय सतिष्ठते-आद्यन्तयो चिन्मात्रपारिशेष्यात् तदेवास्य स्वाभाविक रूपमिति । तदनु द्रष्टेत्यन्तम्—तदनु सर्गारम्भकाले येन वासनादृष्टसभृतजीवाविद्याहेतुना, पुरस्तात् पुरत, महतो विराड्रूपस्य चतुर्मुखस्य वा देहोऽहमित्यभिलापयोग्य, मह स्थूल रूप चेतति ईषत्स्फुरति, तेनैव अविद्याहेतुना, काकतालीयवत्-काकागमनमिव तालपतनमिव-काकतालम्, काकतालमेव काकतालीयम्-काकतालशब्दाद् इवान्तरार्थे सादृश्यान्तरे 'समासाच्च तद्विषयात्' (पा० सू० ५।३।१०६) इति छप्रत्यय, 'आयनेयीनीयिय –' (पा० सू० ७।१।२) इति तस्य ईयादेश । अनर्कितोपनतमिति फलितार्थ । स्वप्न इव भ्रान्त मिथ्याभूतम् आकार पश्यति द्रष्टा अस्मदादिजन । सचाय आस्थित-विज्ञानघन विशुद्धज्ञानैकरूप, आततो वितत । परदृष्ट्यध्यस्तदेहादिना नास्य निर्विकल्पतादिक्षतिरिति भाव ॥२६॥

नास्य कायो न कर्माणि न कर्तृत्व न वासना ।
केवल व्योमरूपस्य भारूपस्येव तेजसः ॥२७॥

नास्येति । पूर्वं प्रपञ्चितस्य निष्कृष्टार्थ ॥२७॥

वेदनामात्रशान्तौ तु नेदृशोऽप्येष दृश्यते ।
तस्माद् यथा चिदाकाशस्तथा तत्प्रतिपत्तयः ॥२८॥

वेदनेति । वेदना, बहिर्मुखचित्प्रवृत्ति, तन्मात्रस्य शान्तौ । ईदृशोऽपि, प्रातिभासिकरूपोऽपीति । तस्माद् अधिष्ठानतत्त्वस्य परिचयेन विषयबाधात्,

तत्प्रतिपत्तय वेदना अपि, यथा चिदाकाश तथैव तद्भावादवतिष्ठन्त इत्याशय ॥२८॥

एवमिह सौरभस्येव वेदनस्यानवकाशे पुष्पस्येव पृथिव्यादेरवकाशस्य वार्तैव दूरोदस्ता । तदत्राक्रमणसाहस नभसि बीजाकरणकल्पमिति यमेन नियमितो मृत्युर्यथागत गतवान् । एतन्निशम्य, पितरेष मम पितामहो नूनमिति रघूद्वहेन निवेदितो ब्रह्मभूराहस्म–भो एष खलु सकल्पाकाशशरीरो ब्रह्मा मन इति ॥२९॥

एवमिहेति । सौरभस्य सुरभेर्भाव –अण् । सद्गन्धस्य इव । वेदनस्य चित्स्वभावाना वेदनाना अनवकाशे असहने, पृथिव्यादे दृश्यप्रपञ्चस्य । दूरोदस्ता–दूरे उदस्ता प्रतिक्षिप्ता । नभसि व्योम्नि, बीजाकरणकल्प बीजोप्तिसदृश-गगनकुसुमायितमित्यर्थ । निशम्य आकर्ण्य । पित गुरो ! अनेन वसिष्ठमभिमुखी करोति । एष आकाशजब्राह्मणेति नामान्तरप्रतिपादितो ब्रह्म पितामह पद्मयोनि 'पितृव्यमातुल—' इति साधु । रघूद्वहेन रघुषु उद्वह रक्षादिभारधारक – उद् + वह + अच् । तेन । रामभद्रेणेत्यर्थ । ब्रह्मभू –ब्रह्मणो भवति इति–'भुव सज्ञान्तरयो' (पा० सू० ३।२।१७९) इति क्विप् । वसिष्ठ । आहस्म उक्तवान् । 'ब्रुव पञ्चानामादित—' इत्यादिना ब्रूञो लटि आहादेश । सकल्पाकाशशरीरो ब्रह्मा मन इति । सकल्पमात्रमेव मनोरूपम् । न पृथिव्यादिघटितम् । ब्रह्मा प्रजापति ॥२९॥

निराकारोऽपि सकल्प कथ पुरुषाकारतामापन्न इति दर्शयति—

चिद्व्योम केवलमनन्तमनादिमध्य
ब्रह्मेति भाति निजचित्तवशात् स्वयभूः ।
आकारवानिव पुमानिव वस्तुतस्तु
वन्ध्यातनूज इव तस्य तनोरभावः ॥३०॥

॥ इत्याद्यसर्गकर्तृनिरूपणम् ॥

चिद्व्योमेति । मनसो ब्रह्माकारकल्पनापरिणामो न वास्तव , किंतु शुद्ध ब्रह्मैव अज्ञानात् तथा विवर्तत इति तात्पर्यम् ॥३०॥

ब्रह्मणो मनोरूपत्वाभ्युपगमे, मनसश्च वासनाजालरूपत्वात् प्राक्तन वासना-जाल न किंचिदस्य वर्तत–इति कथन न बुद्धिपथमारोहतीति मन्यमानो राघव प्रश्न प्रस्तौति—

भगवन् ! यदि पृथिव्यादिवर्जित मनो ब्रह्मेति गीयते तर्हीतर-स्येव ब्रह्मण शरीरे प्राक्तनी स्मृतिः किं न कारणमिति राघवेण पृष्टो वसिष्ठ आख्यत—यस्य किल पूर्वकर्मानुबन्धी देहस्तस्यैव ससृतिसद्भा वात् स्मृतिः कारणम् । ब्रह्मणो हि पूर्वकर्माभावे प्राक्तनस्मृतेः क इव सक्रमः । कारणात्मन इतरस्येव नापि ब्रह्मण आतिवाहिक आधिभौतिक इति देहद्वितय केवलमातिवाहिक एव ॥३१॥

भगवन्निति । इतरस्येव अस्मदादिवत् पश्वादिवच्च । प्राक्तनी स्मृति – पूर्वशरीरत्यागसमयोद्भूता स्मृति । ‘ य य वापि स्मरन् भावमिति गीतोक्तेरस्म दादिरिव ब्रह्मण शरीरे कुतो न प्राक्तनी स्मृति । सत्या च तस्या तदुद्भवावारस स्कारदेहादिकेनापि प्राक्तनेन नून भाव्यमिति । सक्रम सक्रमणम् । प्रवेश इति यावत् । आतिवाहिक – अतिवहनम् अर्चि । धूमादिमार्गेण लोकान्तरप्रापणम् । तत्र साधुरिति ठक् । अस्मदादेर्लिङ्गदेह इव सूक्ष्म इति यावत् । अधिक तु ‘आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्’ (ब्रह्मसू० ४।३।४) इति सूत्रस्थ शारीरकभाष्यादवगन्त-व्यम् । आधिभौतिक, भूतानि व्याघ्रसर्पादीन्यधिकृत्य जात । अधि + भूत + ठञ् । उभयपदवृद्धि । स्थूलभूतज । शेष सुगमम् ।

सर्वासा भूतवृत्तीनामेकोऽजः कारण परम् ।
न चास्य कारण कोऽपि तेनासावेकदेहवान् ॥३२॥
चित्तमात्रशरीरोऽय न भूम्यादिक्रमोत्थित ।
प्रजापतिर्व्योमरूपः प्रजाः प्रतनुतेतराम् ॥३३॥

सर्वासामिति । चित्तमात्रेति च । पूर्वोक्तस्य फलितार्थभूतत्वात् स्प ष्टार्थौ ॥३२–३३॥

ताश्च चिद्व्योमरूपिण्यो विनान्यैः कारणान्तरैः ।
यद् यतस्तत् तदेवेति सर्वैरेवानुभूयते ॥३४॥

ताश्चेति। ता प्रजा, अयै तत्मकल्पव्यतिरिक्तै, कारणान्तरै कारण भेदै। यद् वस्तु, यत यस्मादुपादानाज्जातम। अनुभूयते कनककुण्डलादौ। ततश्च जगतो ब्रह्ममात्रत्वमेव सिद्धम् ॥३४॥

निर्वाणमात्र पुरुष परो बोध स एव हि।
चित्तमात्र तदेवास्ते नाभ्येति वसुधादिताम् ॥३५॥

निर्वाणमात्रमिति। निर्वान्त्यत्र इति निर्वाणम्, तन्मात्र निर्वृतिमात्रमित्यर्थ। वा गतिगन्धनयो। भावे अधिकरणे वा व्युत्पन्न। 'क्तोऽधिकरणे च' (पा० सू० ३।४।७६) इति–'नपुसके भावे' (पा० सू० ३।३।११४) इति वा क्त। 'निर्वाणोऽवाते' (पा० सू० ८।२।५०) इति निष्ठानत्वम्। निर्वाणमस्त गमने निर्वृतौ गजमज्जने। सगमेऽप्यपवर्गे च–'–इति मेदिनी। यत स चित्तो पाधि। चित्तभ्रान्त्या चित्तमात्रभूतोऽपि परमार्थत स चिदाकाश एवास्त इति न पुनर्भौतिकपुरुषादिभावमायातीत्यर्थ ॥३५॥

भगवन्! किंरूप मनो येन नैकविधा जगन्मञ्जरी सचार्यत इति पृष्टो मुनिकुञ्जर आख्यत—॥३६॥

भगवन्निति। किं रूप मन। मनस तात्त्विक स्वरूप कीदृशमिति भाव। जगन्मञ्जरी लोकवल्लरी। सचार्यते प्रसार्यते। समुपसृष्टाच्चरतेर्ण्यन्तात् कर्मणि लट्। मुनिकुञ्जर मुनिश्रेष्ठ ॥३६॥

परमार्थदृशा मनो नाम नास्त्येव किमपि तथापि शास्त्रीय–व्यवहारोपयोगि कल्पित तद्रूपमाह—

यदर्थप्रतिभान तन्मन इत्यभिधीयते।
अन्यन्न किंचिदप्येतन्मनो नाम रघूत्तम! ॥३७॥

यदर्थप्रतिभानमिति। यत् अर्थप्रतिभानम् अर्थाकाराध्यास। तदेव मन इत्यभिलप्यते, नैतदतिरिक्त किमपि मनसो निर्वचन शक्यमुत्प्रेक्षितुमिति भाव ॥३७॥

वस्तुतो मनसो रूपं न मनागपि लभ्यते।
नाममात्रादृते व्योम्नो यथा शून्यजडाकृतेः ॥३८॥

वस्तुत इति । नाममात्रादृते- नाममात्रात् नाम्ना एव केवलात् । 'अन्यारादिति' ऋतयोगे पञ्चमी । अतएव तत्कार्येषु-'वाचारम्भण विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव तु सत्यम्' इति श्रुतौ मिथ्यात्वमस्योपपद्यते । शून्यजडाकृतेरिति भूतव्योम्नो मनसश्च साधारणम् ।।३८।।

न बाह्ये नापि हृदये सद्रूप दृश्यते मनः ।
सर्वत्रैव स्थित चैतदवधेहि यथा नभः ।।३९।।

न बाह्येति । अनेन नभसा मन साम्यमुपदर्शितम् । शेष स्पष्टम् ।।३९।।

मध्ये यदेतदर्थस्य प्रथते प्रतिभासनम् ।
सतो वाप्यसतो वापि तन्मनोऽवेहि नेतरत् ।।४०।।

मध्ये यदेतदिति । प्रत्यक्षे सत स्मृत्यादिपरोक्षे चासतो वा अर्थस्य मध्ये यदेतत् तदाकारप्रतिभान प्रथा गत सर्वलोकस्य तदेव मन । मन्यतेऽनेन-इति-करणे असुन् । निराकारचितोऽर्थाकाराध्यास एव मन इत्यर्थ ।।४०।।

इदमस्मात् समुद्भूत मृगतृष्णाम्बुसनिभम् ।
रूप तु क्षणसकल्पाद् द्वितीयेन्दुभ्रमोपमम् ।।४१।।

इदमिति । इद जगत् । अस्माद् मनस । भ्रम तद्विषयोऽध्यास, तदुपमम् ।।४१।।

भगवन् ! सच्चेन्नेद दृश्य शाम्यति असन्नावगम्यत इति कथकारमिय दृश्यनिषूचिका पिपीलिकानाश नङ्क्ष्यतीति राघवेणोक्तो मुनिवृषा व्याख्यत— भो ! अस्य दृश्यपिशाचस्य निरासाय तावदेष मन्त्रराजः, सतो नाशायोगान्नष्टमप्येतदन्तर्बीजभूत भवेदेव तत स्मृति-सेकेन दृश्यधीरुद्भूय विविधदोषकुसुमस्तबका भववल्लरीं विकासयेदिन्यनि-र्मोक्षः प्रसजति, स एष मोक्षपथाधिरूढानामेतेषा देवर्षिमुनिसार्थाना दर्शनादिव बाढ कान्दिशीकायते ।।४२।।

भगवन्निति । दृश्यस्यासत्त्वे भवदुक्त केवलीभावो नून सगच्छेदेव, पर सत्सदित्येव दृश्यानुभवात् तद् विरुध्यत इति परिणामवादाभिप्रायेणात्र राघवस्य

प्रश्न । दृश्यविषूचिका- दृश्यरूपा विषूचिका प्रवाहिका । कथकार केन प्रकारेण। 'अन्यथैव कथमित्थसु सिद्धाप्रयोगश्चेत्' (३।४।२७) इति कृञो णमुल् । पिपीलिकानाश जीवनाश नश्यतीत्यर्थ । 'कर्त्रोर्जीवपुरुषयोर्नशिवहो ' (३।४।४३) इति नशे कर्तरि णमुल् । नङ्क्ष्यतीति-णश अदर्शने- इति दैवादिकात् कर्तरि लृट् । दृश्यमेव पिशाच -पिशितमाचामति- इति योगार्थात् पिशाच इवाकुलयतीत्यर्थ । अयमत्राभिसधि - असतोऽप्यविद्यया सदनुबोधाद् दृश्यस्य सत्ताभ्रम । कैवल्य-भावोदये तु अविद्याया मूलोच्छेदान् नाय भ्रम समुदेति । प्रथम जीवन्मुक्त दर्शनलिङ्गेन अनिर्मोक्षप्रसञ्जनेन च दृश्ये सत्यताविश्वास वारयतो विवर्तवाद मभ्युपेत्य भगवतो वसिष्ठस्य प्रतिवचनम् । मुनिवृषा मुनिश्रेष्ठ । व्याख्यत व्या-चख्यौ । मन्त्रराज - मन्त्राणा राजति विग्रह । 'राजाह सखिभ्यष्टच्' इति समा-सान्तष्टच् । सतो नाशायोगात् भवेदेव । इहेदमाकूतम्— परिणाम-वादे हि वस्तुत उत्तरोत्तरावस्थाभि पूर्वपूर्वावस्थातिरोभावमात्रम् , नात्यन्तिको-च्छेद । सतोऽसत्त्वायोगात् । तथाच नाशलक्षणेन पार्यन्तिकेनापि विकारेण तिरोहितस्य द्वैतस्य चित्ते प्रकृतौ वा अवस्थितस्य कामकर्मवासनाबीजात् पुनरु-द्भवो दुर्वार एव- इत्यनिर्मोक्षप्रसङ्ग - इति । स्मृतिसेकेन- स्मृत्या सेक सेचनम्-तेन । स्मृतिग्रहण भोगोपयुक्तान्त करणवृत्तिप्रमुखस्य सर्वस्यापि जगत उपलक्ष-णम् । उद्भूय प्रादुर्भूय । विविधदोषकुसुमस्तबकाम्- विविधा विविधप्रकारा ये दोषा अविद्याजन्मान - त एव कुसुमस्तबका प्रसूनगुच्छका - ते सन्ति यस्या सा, ताम् । भववल्लरीम्- ससारमञ्जरीं विकासयेत् प्रादुष्कुर्यात् । मोक्षपथावि-रूढाना जीवन्मुक्ताना देवर्षिमुनिसार्थानाम् । देवाश्च ऋषयश्च मुनयश्चेति-देवर्षिमुनय - तेषा सार्थ सङ्घ - तेषाम् । कान्दिशीकायते- कान्दिशीक इवा-चरतीति आचारार्थे क्यच् । बिभ्यदिव नोपसर्पति । कान्दिशीको भयद्रुत - इत्यमर ।

चिदात्मा य स्वबाह्यप्रधानस्थमेव दृश्य बुद्ध्यविवेकात् स्वहृत्स्थितमिव पश्यति- सोऽय ससार विवेकज्ञानोदयात् तदविवेकाभिमाननिवृत्तौ सत्यामपि बहि तस्मिन्- ततो विषयरागिणाम् आरम्भादिवादिना च मोक्ष स्यादिति साख्यसरणिं पुरस्कृत्य आशङ्कते । तथा च गौडपादा —

'अस्पर्शयोगो नामैष दुर्दर्श सर्वयोगिनाम् ।
योगिनो बिभ्यति यस्मादभये भयदर्शिन ॥'

इति ॥४२॥

यदि स्याज्जगदादीद ततो मोक्षो न कस्यचित् ।
बाह्यमाभ्यन्तर वास्ता दृश्य नाशाय केवलम् ॥४३॥

यदि स्यादिति । स्पष्टम् ॥४३॥

तस्मादिमा प्रतिज्ञा त्व शृणु रामातिभीषणाम् ।
यथायुक्ति यथाशास्त्र सदर्भेऽत्र विजृम्भिताम् ॥४४॥

तस्मादिति । तस्माद्- विवर्तवादस्यैव परिशिष्टत्वात् । प्रतिज्ञाम्- प्रतिज्ञायते इति । प्रति + ज्ञा + 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ् , टाप् । ताम् । कर्तव्यतयोपदेशमार्गमित्यर्थ । भीषणाम् दारुणाम् । यथायुक्ति- युक्तिमनतिक्रम्य वर्तत इति । एव यथाशास्त्रमपि । सदर्भे प्रबन्धे । विजृम्भिताम् उल्लासिताम् ॥४४॥

ब्रह्मणो रूप निर्दिशति द्वाभ्याम्—

अयमाकाशभूतादिरूपोऽहमिति लक्षिते ।
जगच्छब्दस्य नामार्थो ननु नास्त्येव कश्चन ॥४५॥
यदिद दृश्यते किंचिद् दृश्यजातं पुरोगतम् ।
परब्रह्मैव तत्सर्वमजरामरमव्ययम् ॥४६॥

अयमिति । यदिदमिति च । निगदव्याख्यातावेतौ ॥४५-४६॥

पूर्णे पूर्णं प्रसरति शान्ते शान्त व्यवस्थितम् ।
व्योमन्येवोदित व्योम ब्रह्मणि ब्रह्म तिष्ठति ॥४७॥

पूर्णे पूर्णमिति । प्रतीचो यद् ब्रह्मैक्य तत् पूर्णे पूर्णं प्रसरति । व्योमन्येव घटाद्युपाधित्यागाद् व्योम्नेवोदितम् । अतो ब्रह्मण्येव ब्रह्म तिष्ठति- नाणुमात्रमपि तद् विक्रियते । यत्र हि यदध्यास तत्कृतेन गुणेन दोषेण वा अणुमात्रेणापि स न सबध्यत इति ॥४७॥

भगवन् ! नन्वेव वन्ध्यातनूजेनापेषि शैलः, शशविषाणेन पलायि दूर, शिलयानर्ति मुहुरिति व्याहरति रघूत्तसे स सूनृतवाग् व्याहृत— ॥४८॥

भगवन्निति । अत्र वन्ध्यातनूजेनेत्यादयो दृष्टान्ता पदार्थवाक्यार्थोभयासंभवप्रदर्शनायोन्यन्ते । सूनृतवाक्- सूनृता प्रिया सत्या च वाग् यस्य स । प्रामाणिकमूर्धन्य । व्याहृत व्याहरत् ।।४८।।

मनो दृश्यमय दोष तनोतीम त्रयात्मकम् ।
असदेव सदाकार स्वप्नः स्वप्नान्तर यथा ।।४६।।

मनो दृश्यमिति । स्पष्टार्थ ।।४६।।

स्फुरति गच्छति वल्गति याचति
भ्रमति मज्जति सहरति स्वयम् ।
अपरता परतामपि केवला
श्रयति चञ्चलशक्तितया मनः ।।५०।।

।। इति प्रकरणार्थकल्पनम् ।।

स्फुरतीति । मनश्चञ्चलशक्तितया यत् श्रयति तत्रैव स्फुरतीत्यादिभ्रमो विभाव्यते । अपरता सासारिकदशाप्रयुक्तमपकर्षम् । परता कैवल्यलक्षणोत्कर्षम् । श्रयति उपयाति ।।५०।।

।। इति प्रकरणार्थकल्पनम् ।।

महाप्रलयविस्फूर्त्तौ दृश्येऽसत्तामुपागते ।
अजोऽव्ययो भासमानः परमात्माऽवशिष्यते ।।५१।।

महाप्रलयेति । महाप्रलयस्य सकल्पप्रलयस्य विस्फूर्ति विस्फुरण यत्र । अर्थाज्जगति । असत्ता सूक्ष्मीभावादर्थक्रियाऽसमर्थताम् । परमात्मा महेश्वर ।।५१।।

यः पुमान् साख्यदृष्टीना ब्रह्म वेदान्तवादिनाम् ।
वैज्ञानिकाना विज्ञान शून्य शून्यविदामपि ।।५२।।

यः पुमानिति । सर्ववादिनामपि तत्तद्बुद्धिकल्पितैर्विशेषै स एव सिद्धान्तविषय – इति सर्वाधिष्ठाने तस्मिन्न कोऽपि विवाद । अतएवेदमुच्यते– सज्ञासु केवलमय विदुषा विवाद ' इति ।।५२।।

नह्येष इति । अभ्याशो अन्तिके नातिदूरे नाति सन्निहिते क्रियामन्तरेण अलभ्ये विषमादिस्थे च फले क्रिया सफला स्यात्, आत्मा तु न तथेति पूर्वार्धस्याशय । स्वानन्दा लभ्यते-विस्मृतकण्ठस्वर्णाभरणवज्ज्ञानलभ्यतास्वस्य सुलभेति तात्पर्यम ॥५७॥

अय स देव इत्येव सपरिज्ञानयोगतः ॥
जन्तु र्न लभते दुःख जीवन्मुक्तत्वमेत्यपि ॥५८॥

अय सदेवेति । सपरिज्ञानयोगत —सपरिज्ञान स्वात्मानुभव तद्योगत ॥५८॥

स्वपौरुषप्रयत्नेन विवेकेन विकासिना ॥
स देवो ज्ञायते राम ! न तपोदानकर्मभिः ॥५९॥

स्वपौरुषेति । श्रवणमननादिरूपात् स्वपौरुषादतिरिक्त नान्यत् साधनान्तरम् ईश्वरपरिचयमुद्भावयतीति भाव ॥५९॥

रागद्वेषतमःक्रोधमदमात्सर्यवर्जनम् ॥
विना तपो वा दान वा क्लेश एव न वास्तवम् ॥६०॥

रागद्वेषेति । न वास्तव साधनमिति शेष ॥६०॥

रागाद्युपहते चित्ते वञ्चयित्वा पर धनम् ॥
यदर्ज्यते तस्य दान तपो वा तच्च निष्फलम् ॥६१॥

रागादीति । रागाद्युपहते रागादिना कलुषिते । सति रागादौ धनार्जने परवञ्चनाद्यवश्यभावाच् चित्तशुद्धेरेव दुर्लभत्वाद् दानादे काम्य फलमपि दुर्लभम् । दूरे ततो ज्ञानमोक्षप्रत्याशा ॥६१॥

शृणु तत् पौरुष कीदृगात्मज्ञानस्य लब्धये ॥
येन शाम्यत्यशेषेण रागद्वेषविषूचिका ॥६२॥

शृणु तदिति । स्पष्टार्थ ॥६२॥

अक्लेशवृत्त्या वृत्त्या वा लोकशास्त्राविरुद्धया ॥
सतोषैश्वर्यसपन्नो भोगगन्ध परित्यजेत् ॥६३॥

अक्लेशेति । वृत्त्या जीवनसाधनसपत्त्या । लोकशास्त्राभ्याम् अविरुद्धया समतया । भोगगन्ध भोगवासनाम् । तदभिनिवेशमिति यावत् ॥६२॥

यथाप्राप्तार्थमतुष्टो यो गर्हितमुपेक्षते ॥
साधुमगमसच्छास्त्रसेवी सद्यः स मुच्यते ॥६४॥

यथाप्राप्तेति । अर्थसतुष्ट वित्तैषणाशून्य । गर्हित शास्त्र, शिष्टेषु निन्दितम् । सद्य तत्क्षणम्-शीघ्र वा ॥६४॥

विचारेण परिज्ञातस्वभावस्य महामतेः ॥
अनुकम्प्या भवन्त्येते ब्रह्मेन्द्रोपेन्द्रशकराः ॥६५॥
(इति मुमुक्षुप्रयत्नोपदेशः)

विचारेणेति । परिज्ञातस्वभावस्य—परिज्ञात परिशीलित स्वभाव आत्मतत्त्व येन-तस्य । अनुकम्प्या कृपाभाज । उपेन्द्रो विष्णु ॥६५॥
(इति मुमुक्षुप्रयत्नोपदेश)

एष सर्वमिद विश्व न विश्व चैष सर्वगः ॥
एष एको महान् देवो नहि विश्वाभिधास्ति दृक् ॥६६॥

एषेति । अस्य सर्वाधिष्ठानभावेन सर्वगतत्वमिति प्रतिपादनाय विश्वात्मत्वोक्तिरिति भाव ॥६६॥

चेतन राम ! ससारो जीव एष पशुः स्मृत. ॥
अत उज्जिहते स्फारा जरामरणभीतयः ॥६७॥

चेतनमिति । चेतनम्—चेतयते चेतति वेति व्युत्पत्ति । 'नन्दिग्रहि–' (पा० सू० ३।१।१३) इति कर्तरि ल्यु । वाड् मन प्राणकरणग्रामानुप्रविष्ट ब्रह्मैव जीव । स च बहिर्मुखतया विषयानेव सारतया पश्यन् पशुरित्युच्यते । अत अस्मादेव देहेन्द्रियविषयवासनानुसारात् तत्तद्देहपरिग्रहे स्फारा जरामरण-भीतय उज्जिहते । उत्पूर्वाद् 'ओहाड् गतौ' इत्यत कर्तरि लट् । अन्त स्थिता आविर्भवन्ति ॥६७॥

स्थूल शरीरातिरिक्ततया तज्ज्ञानादेव जरामरणादिप्रत्यय सिद्ध —'अश-रीर वा वसन्त प्रियाप्रिये न स्पृशत' इति श्रवणाद् इत्याशङ्का परिहरति—

पशुरज्ञो ह्यमूर्तोऽपि दुःखस्यैवैष भाजनम् ॥
चेतनत्वाच्चेतनीय मनोऽनर्थः स्वयं स्थितः ॥६८॥

पशुरिति । सर्वमविशेषेण पश्यतीति पशु । अमूर्तस्थूलदेहशून्योऽप्यसौ न कृतार्थ । यत अज्ञ अज्ञानवान । चेतनीय यन्मन तद्रूपोऽनर्थश्च स्वय भूत्वा स्थित । अतो दुःखभाजनमेवैतत् । अशरीरमित्यादिश्रुत्यर्थस्तु स्थूल-सूक्ष्म कारण देहत्रयरहित प्रियाप्रिये न स्पृशत -इत्येवतात्पर्यक न तु स्थूलदेहमात्र-पर । तथात्वेऽपि स्वप्ने प्रियाप्रियदर्शनादिति भाव ॥६८॥

चेत्यनिर्मुक्तता या स्यादचेत्योन्मुखताऽथवा ॥
सा चास्य भरितावस्था ता ज्ञात्वा नानुशोचति ॥६९॥

चेत्यनिर्मुक्ततेति । मुक्तौ चेत्यनिर्मुक्तैव प्रयोजिका । अचेत्योन्मुखता तु समाधौ प्रसिद्धा । इयमेवास्य भरितावस्था मुक्तावस्थेति ॥६९॥

अत्रार्थे श्रुति प्रमाणयति—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ॥
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥७०॥

भिद्यत इति । मूलाज्ञाननाशात् तत्कार्य-अन्त करणतादात्म्याध्यास लक्षणो हृदयग्रन्थि भिद्यते नश्यति । तन्नाशादेव तन्मूलका संशयादयोऽपि नश्यन्तीत्यर्थ । परावरे-पर कारणमपि अवर यस्मात् तत्-तथाविधे । कर्माणि सुखदुःखस्वभावानि । क्षीयन्ते समूलघात विलीयन्ते ॥७०॥

एव तर्हि चित्तनिरोधलक्षणयोगेनैव चेत्योन्मुखत्वस्य रोद्धु शक्यत्वा-ज्ज्ञानप्रयासो निरर्थकस्तत्राह—

तस्य चेत्योन्मुखत्व तु चेत्यासभवमन्तरा ॥
रोद्धु न पार्यते दृश्य चेत्य विरमते कथम् ॥७१॥

तस्येति । चेत्यस्य दृश्यस्य असभवज्ञानेन मूलतो बाधम् । चेत्य कथ वै शाम्यति विना ज्ञानमिति शेष । तदित्थ ज्ञानमन्तरा तादृशस्वरूपसमाधि-रेव न सिध्यतीत्यर्थ ॥७१॥

यदेतच्चेतन जीवो विशीर्णो जन्मजङ्गले ॥
उशन्त्यात्मानमेत ये ते मन्दाः कोविदा अपि ॥२७॥

यदेतदिति । जन्मजङ्गले जन्मवने । जन्मग्रहण शरीरसङ्गोपलक्षणार्थम् । विशीर्ण गलित । उशन्ति इच्छन्ति । वश कान्तौ । कान्तिरिच्छा । कर्तरि लट् ॥७२॥

जीव एव हि ससारश्चेतना दुःखसततिः ॥
ज्ञातेऽस्मिन् नापि विज्ञात किंचिद् भवति सुव्रत ! ॥७३॥

ज्ञायते परमात्मा चेत् सर्वा दुःखस्य सततिः ॥
प्रणश्यति विषावेशशान्ताविव विषूचिका ॥७४॥

जीवेति । ज्ञायत इति च । द्वावपि स्पष्टार्थौ ॥७४॥

द्रष्टृदृश्यक्रमो यत्र स्थितोऽप्यस्तमय गतः ॥
यदनाकाशमाकाश तद्रूप परमात्मनः ॥७५॥

द्रष्टृदृश्येति । अनाकाशमाकाशम्–आकाशबाधेऽप्यपरिच्छिन्नत्वेनविपुलत्वादाकाशम् ॥७५॥

अशून्यमिव यच्छून्य यस्मिञ्शून्य जगत्स्थितम् ॥
सर्गौघे सति यच्छून्य तद्रूप ब्रह्मणो विदुः ॥७६॥

अशून्यमिवेति । जगत् स्वभावशून्यमपि यत् सर्ववस्तुयाथात्म्यभूत स्वरूपेण पूर्णत्वाद् अणुमात्रेणापि अशून्यमिव शून्यम् असदपि जगत् स्थितम् । सद्भावमापन्नमित्यर्थ । सर्गौघे–सर्गलक्षणा ओघा यस्य तथाविधे अज्ञाने सति यत्सदपि अनुपयोगाच्छून्यमिव शून्यम् ॥७६॥

तज्ज्ञातमात्मनो रूप भवेन्नान्येन वर्त्मना ॥
जगन्नाम्नोऽस्य दृश्यस्य स्वसत्तासभव विना ॥७७॥

(इति जगदादिदृश्यासत्ताप्रतिज्ञा)

तज्ज्ञातमिति । स्वसत्तासभव मिथ्यात्व तन्निश्चयमिति यावत् ॥७७॥

(इति जगदादिदृश्यासत्ताप्रतिज्ञा)

स्थितमेवास्तमायाति जगद्दृश्य विचारणात् ॥
यथा स्वप्नागमे स्वप्ने ज्ञाते सत्यत्वभावनम् ॥७८॥

स्थितमिति । यथा स्वप्नादौ स्थिते एव स्वप्नोऽयमिति परिज्ञाने स्वप्न सत्यत्वभावना अस्तमेति तद्वत् ॥७८॥

तदिद ज्ञायते ह्यस्मिन्ज्ञानकोशेऽवधारिते ॥
तज्जीवन्मुक्तिसाम्राज्यसौख्य यत्रानुभूयते ॥७९॥

तदिदमिति । विनेयानामभिमुखीकरणार्थ प्ररोचनावाक्यमिवेद ब्रह्म-विषयकज्ञानप्रशसापरम् । ७९॥

बोधैकनिष्ठता यातो जाग्रत्येव सुषुप्तवत् ॥
य आस्ते व्यवहर्तैव स जीवन्मुक्त उच्यते ॥८०॥

बोधैकनिष्ठतेति । यो व्यवहर्ता सन्नपि-'नैव किचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' इति भगवदुक्तदिशा जाग्रत्यपि सुप्तवन्निर्विकार आस्ते स जीवन्मुक्त ॥८०॥

यस्य नाहकृतो भावो यस्य बुद्धिर्न लिप्यते ॥
कुर्वतोऽकुर्वतो वापि सजीवन्मुक्त उच्यते ॥८१॥

यस्य नाहमिति । न लिप्यते कर्तृत्वाकर्तृत्वाभिमानाभ्यामित्यर्थ ॥८१॥

जीवन्मुक्तपद त्यक्त्वा काये कालनिमीलिते ॥
विदेहमुक्ततामेति मरुदस्पन्दतामिव ॥८२॥

जीवन्मुक्तेति । कालेन निमीलिते ग्रस्ते प्रारब्धक्षये सतीति यावत् । विदेह मुक्तता मुक्तिविशेष । विदेहाद् देहविगमाद् या शुद्धा मुक्तता सा । तथाच—

'तत कालवशादेव प्रारब्धे तु क्षय गते ।
वैदेही मामकी मुक्ति याति नास्त्यत्र सशय ॥' इति ।
मरुत् पवन । अस्पन्दताम् निश्चलताम् ॥८२॥

यतः कालस्य कलना यतो दृश्यस्य दृश्यता ॥
मानसी कल्पना येन यस्य भासा विभासनम् ॥८३॥

क्रिया रूप रस गन्ध शब्द स्पर्श च चेतनम् ॥
यद् वेत्सि तदसौ देवो येन वेत्सि तदप्यसौ ॥८४॥ (युग्मकम्)

(इति परमकारणदर्शनम्)

यत इति क्रियामितिच । कालस्य कलना षड्भावविकारा । दृश्यस्य दृश्यता, दर्शनफलव्याप्ति । मानसी कल्पना इष्टानिष्टपरिहारविषया मनोरथ-विकल्पा । येन निमित्तेन । क्रमाद् यदीयसच्चिदानन्दरूपता निर्वाह्या इति यावत् । तच्च त्रयम् यस्य भासा जगद्विभासनमेव नान्यत । अय भाव —अज्ञात-साधारणी सर्वव्याप्ति सत्ता । अनावृतमात्रव्याप्ति दर्शनम् । तत्र अनुकूल वेदनीयमात्रव्याप्ति आनन्दता इत्यवान्तरे औपाधिकवैलक्षण्ये सत्यपि भारूप-व्याप्तेरेकरूपत्वात् ।

देहकर्मेन्द्रियोपाधो क्रिया, ज्ञानेन्द्रियोपाधो रूपादि, अन्त करणोपाधौ चेतन प्रमातार च यत्स्वरूप सन् वेत्ति तत् प्रमातृनिष्कृष्टचिद्रूपमसौ । येन विषयव्याप्तवृत्तिनिष्कृष्टचिद्रूपेण वेत्ति तदप्यसौ देव इत्याशय ।।८३-८४।।

(इति परमकारणदर्शनम्)

नाशयित्वा स्वमात्मान मनसो वृत्तिसक्षये ।।
सद्रूप यदनाख्येय तद्रूप तस्य वस्तुनः ।।८५।।

नाशयित्वेति । यथा समाधो निरोधेन वृत्तिसक्षये सति निरिन्ध-नाग्निवन् मनस स्वमात्मान मन स्वरूपमपि नाशयित्वा यद् अनाख्येय स्वप्रकाशसद्रूपम् अवशिष्यते तद् इत्यर्थ ।।८५।।

नास्ति दृश्य जगद् द्रष्टा दृश्याभावाद् विलीनवत् ।।
भातीति भासन यत् स्यात् तद् रूप परमात्मनः ।।८६।।

नास्ति दृश्यमिति । निर्विकल्पकस्य समाधे प्रारम्भे दृश्याभावाद् द्रष्टा प्रमातापि विलीनवद् भाति इति त्रिपुटीलयभासन साक्षिरूप तदित्यर्थ ।।८६।।

चित्प्रकाशस्य यन्मध्य प्रकाशस्यापि खस्य वा ।।
दर्शनस्य च यन्मध्य तद् रूप ब्रह्मणो मतम् ।।८७।।

चित्प्रकाशेति । यद् द्रष्टु कोटौ अन्नमयान्ते आत्मतया प्रसृतस्य चित्प्रकाशस्य एकैककोशविवेकेन पर्यालोच्यमानस्य आनन्दमयकोशस्यापि आन्तरत्वान् मध्यम, दृश्यकोटौ च मूर्तप्रपञ्चसारभूतस्य आदित्यात्मकप्रकाशस्य अमूर्तप्रपञ्चसारभूतस्य खस्य, आकाशलिङ्गसमष्ट्यात्मन अव्याकृताकाशस्य वा आन्तरत्वाद् यन्मध्य दर्शनस्य चाक्षुषादिवृत्तिरूपस्य च अन्त स्फुरणरूपत्वाद्

यन्मध्यम्, यथाक्रमम् आनन्दसच्चिद्रूप प्रसिद्ध तद् ब्रह्मणो रूपमित्यर्थ । तथाच तैत्तिरीयाणामुपनिषदि अन्नमयादीना कोशानाम् आन्तरम् आनन्दमयकोश प्रदर्श्य—'तस्य प्रियमेव शिर —मोदो दक्षिण पक्ष प्रमोद उत्तर पक्ष आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठेति' तस्याप्यान्तर ब्रह्म दर्शितम् । बृहदारण्यके च—द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त चैवामूर्त चेति' प्रस्तुत्य—'तस्य मूर्तस्यैष रसो य एष तपति, तस्यैतस्यामूर्तस्यैष रसो य एतस्मिन् मण्डले पुरुष' इति प्रदर्श्य—'अथात आदेशो नेति नेतीति मूर्तामूर्तारोपाधिष्ठान तदन्तर ब्रह्म तन्निषेधेन दर्शितम् । 'प्रतिबोधविदित मतम्' इति तवलकाराणामुपनिषदि ब्रह्मण सर्वबुद्धिवृत्त्या आन्तरत्वमुक्तम् ॥८७॥

यतो जगदुदेतीव नित्यानुदितरूप्यपि ॥
विभिन्नवदिवाभिन्न तद्रूप परमार्थकम् ॥८८॥

(इति कल्पान्तावशिष्टपरमभावदर्शनम्)

यतो जगदुदेतीति । परमार्थक वास्तविकम् । अन्यत् पूर्वमवोचामेति नेरु पुनरायस्यते ॥८८॥

(इति कल्पा तावशिष्टपरभावदर्शनम्)

तुल्यस्यातुलभावस्य भावकैः किल तोलनम् ॥
अनन्वया यथैवोक्तिर्जगत्सत्ता तथैव हि ॥८९॥

तुल्यस्येति । तुल्यस्य उपमातुम इष्टस्य, दृश्यस्य, उपमेयबहिर्भूततुलाया अलाभेन, उपमातुमशक्यस्य भावस्य, उपमेयकोटिप्रविष्टै भावकै यत् तोलनम् उपमावचन तद् अनन्वयालकारोदाहरणभूता यथा उक्तिस्तथैव । यथा—गगन गगनाकार सागर सागरोपम ।' इत्युक्तिरनुपमत्वे पर्यवस्यति, तथैव स्यात्–इति न विकल्पकल्पनादृष्टान्त । अतो जगत पृथक्सत्ता तथैव यथा वन्ध्यापुत्रसत्तेति । असत सद्दृष्टान्तादर्शनेऽपि असद्दृष्टान्तता न विरुध्यते । वन्ध्यापुत्र इव खपुष्पमसदित्युक्तिदर्शनात् ॥८९॥

आकाशे च यथा नास्ति शून्यत्व व्यतिरेकवत् ॥
जगत्त्व ब्रह्मणि तथा स्वूत्त सोपलब्धिमत् ॥९०॥

आकाश इति । व्यतिरेको भेदस्तद्वत् । उपलब्धिमद् उपलभ्यमानमपि ॥९०॥

यथा पुरमिवास्त्यन्तर्विदेव स्वप्नसंविदः ॥
तथा जगदिवाभाति स्वात्मैव परमात्मनि ॥६१॥

(इति परमार्थदर्शनम्)

यथा पुरमिति । स्वप्नसंविद स्वप्नद्रष्टुरन्तर्गता वित् चैतन्यमेव पुरमिव यथा आभाति तथा परमात्मनि स्वात्मैव, जगदिव जगदाकारेण आभाति आभासते ॥६१॥

(इति परमार्थदर्शनम्)

ब्रह्मैव सर्गवद् भाति सुषुप्त स्वप्नवद् यथा ॥
सर्वात्मक च तत्स्थान तत्र राम ! क्रम शृणु ॥६२॥

ब्रह्मैवेति । यथा प्रतिपुरुष सुषुप्त्यात्मरूपमेव स्वप्नवद् विवर्तते तथा ब्रह्मापीति दृष्टान्तानुसारिणीय कल्पनेत्यर्थ । सर्वात्मकत्व च—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इति श्रुतौ सर्ववाचि, इदपदसामानाधिकरण्यात् । तत्स्थान सर्वसुषुप्तसमष्टिप्रलयावस्थ ब्रह्मेति ॥६२॥

तस्य खलु परप्रकाशस्य सत्तामात्रात्मक यद् विश्व तदात्मनि संविदा अगृहीतात्मकमहमर्शनपूर्वक भविष्यन्नामार्थकलनाभ्यूहितरूपक स्वयमेव किंचिच्चेत्यतामिवोपयाति । तदनु सा परसत्तैव सचेतश्चेतनो-न्मुखीचिन्नामयोग्या जायते । तदनु सान्द्रसवेदना कलितकलनीया पर पद त्यजन्ती जीवादिसज्ञिता भावनामात्रसारा ससरणपरायणा वस्तुस्वभावेन सत्तामनूत्तिष्ठति । तदन्वाकाशसत्ताबोधः ॥६३॥

तस्य खल्वित्यादि । परप्रकाशस्य अनन्तप्रकाशात्मरूपस्य । सत्तामात्रात्मकम्—सत्तामात्र आत्मा परमार्थरूप यस्य तथाविध संविदा अहमर्शनपूर्वकम् अगृहीतात्मक अहकाराध्यास विना, भविष्यन्नामार्थकल नाभ्यूहितरूपक सर्वस्मिन् सृज्यविषये भावि नामरूपसधानै अभ्यूहितानि रूपाणि यस्मिन् तथाविध सत् चेत्यतामिव गच्छति । तदनु सत्तामनूत्तिष्ठ तीत्यादि—ईक्षणवृत्ति तद्विषयोपाधिभ्याम् ईश्वरजीवभावयो प्रदर्शनम् । परसत्ता ब्रह्मसत्ता । चेत ईक्षणात्मिका वृत्ति तत्सहिता चेतना, तदभिव्यक्तचैत-

न्यम् , तदुन्मुखी तत्प्रधाना सती । चिन्नामयोग्या, चेतयतीति चित सर्वज्ञेश्वर तन्नामयोग्या । वाक्प्रवृत्तिलभ्येति यावत् । जायते भवति । तदनु समनन्तरमेव । सान्द्रसवेदना चिरानुवृत्या सान्द्रा घनीभूता सवेदना ईक्षणसवेदना यस्या तथाविधा सती । कलितकलनीया—कलितेन आत्तेन गृहीतेन वा तद्विषयकसूक्ष्म-प्रपञ्चात्मभावलक्षणपरिच्छेदेन न कलनीया । अतएव पर पद त्यजन्ती अपरिच्छिन्नभूमात्मभाव विस्मरणेनोज्झती । जीवादिसञ्ज्ञिता भाविप्राणधारणोपाधिक-जीव—हिरण्यगर्भादिनामिका । ससरणपरायणा ससरणोन्मुखी । भावनामात्रसारा—न विकारादिक्रियासारेत्यर्थ । वस्तुस्वभावेन तामिमा सत्तामेवानुसृत्य रज्जौ सर्प इव जीवभाव उत्तिष्ठति । तदनु समनन्तरमेव । अस्या जीवसत्ताया आकाशसत्ताद्योघ प्रवाह । इतरभूतावकाशदत्वाच्छून्यताप्राया उदेति । सूर्यादिसर्गोत्तर भविष्यन्तीना आकाशाद्यभिधानाम् आ समन्तात काशते इत्याद्यर्थदा ॥६३॥

इत्थच यदुक्त ब्रह्मैव जगदाकार भवतीति तत् सिद्धमित्याह—

बीज जगत्सु ननु पञ्चकमात्रमेव
बीज पराव्यवहितस्थितिशक्तिराद्या ॥
बीज तदेव भवतीति सदानुभूत
चिन्मात्रमेवमजमाद्यमतो जगच्छ्रीः ॥६४॥

(इति जगदुत्पत्तिदर्शनम्)

बीज जगत्स्विति । जगत तन्मात्रपञ्चक बीज कारणम् । तस्य च बीज परेण परमात्मना अव्यवहिता साक्षात् सबद्धा जगत्स्थितिहेतुर्मायाशक्तिरेव। इत्थ च तत् परमात्मतत्त्वमेव मायाशक्त्या बीज भव मायापगमे तदेव भवतीति प्रतिज्ञातार्थसिद्धिरित्यर्थ ॥६४॥

(इति जगदुत्पत्तिदर्शनम)

प्रलये सुषुप्ताविव विलयेन मायाशबलब्रह्मभाव प्राप्ताना जीवोपाधीना पुनराविर्भावक्रम पञ्चभि सहेतुकमुपन्यस्यति—

परमे ब्रह्मणि स्फारे समे राम ! समस्थिते ॥
अनुद्भूतनभस्तेजस्तमःसत्त्वे चिदात्मनि ॥६५॥

परम इति । विकारकृतवैषम्यशून्यमायाशबलत्वात् समे । समस्थिते समे चाधिष्ठानस्थिते । अनुद्भूताना नभस्तेजस्तम आदीना या कारणात्मना सत्ता तद्रूपे चिदात्मनि ॥६५॥

चितश्चेतयितृभावलक्षणजीवत्वस्य विषयकरणसिद्धिपूर्वकत्वात् तदध्यास प्रथम दर्शयति—

पूर्व चेत्यत्वकलन सतश्चेत्याशचेतनात् ॥
उदेति चित्तकलन चिति शक्तित्वचेतनात् ॥६६॥

पूर्वमिति । कलन कल्पनम् । तत्र हेतु सद्वस्तुन तत्प्रथास्वभाववत्तैव । एवमुत्तरत्रापि । यदेवाध्यस्यते तत्प्रथास्वभावताया चितिपूर्वसिद्धत्वात सर्वत्र निमित्तता ॥६६॥

ततो जीवत्वकलन चेत्यसयोगचेतनात् ॥
ततोऽहभावकलन चेत्यैकपरतावशात् ॥६७॥

ततो जीवत्वेति । एकपरता तावन्मात्रोऽहमित्यभिमान ॥६७॥

ततो बुद्धित्वकलनमहतापरिणामनात् ॥
एतदेव मनस्त्वादि शब्दतन्मात्रकादिमत् ॥६८॥

ततो बुद्धिरवेति । अहतापरिणामनात् अहतोपचयत । इत्थ धर्मसिद्धौ शब्दादिविषयमात्राणा वासनात्मना स्वान्तर्गताना स्वप्न इव मननात् तद्घटित मन रूप एतदेव सपद्यत इत्यर्थ ॥६८॥

तस्य स्थूलदेहभावापत्तिम आह—

उच्छूनादन्यतन्मात्रभावनाद् भूतरूपिण: ॥
अयमेव महागुल्मो जगदादिर्विभाव्यते ॥६९॥

उच्छूनादिति । वासनात्मना शब्दतन्मात्राणाम् अन्यै स्पर्शादितन्मात्रै भावनात् मेलनात् पञ्चीकृतभावेनोच्छूनाद् आध्यात्मिकमहाभूतरूपिण स्थूल देहभावापन्नान्मनस इति यावत् । महागुल्म प्रकाण्डरहितो महाद्रुम ॥६९॥

जगतः पञ्चक बीज पञ्चकस्य चिदव्यया ॥
यद् बीज तत् फल विद्धि तस्माद् ब्रह्ममय जगत् ॥१००॥

जगत इति । पञ्चक तन्मात्राणाम् । विद्धि जानीहि ॥१००॥

इत्थमेतत् पञ्चक महाकाशे सर्गादौ चिच्छक्त्या स्वाङ्गभूतात्मेव कल्प्यते न पुन. पारमार्थिकम् । अनेन यदपीद जगदुच्छूनता प्रतिपद्य वितन्यते तदप्यात्मन्याकाशात्मक सन्मयमेव । नहि क्वापि तत्सिद्ध नाम मन्यते यदसिद्धेन साध्यते । यच्च तावद्विकल्पात्मकस्वरूप तत्खलु कथ सत्यतामियात् । अथ चेत् पञ्चक ब्रह्मात्मकधिया ब्रह्मास्ते तदा प्ररूढ जगदपि ब्रह्मैव । यथा खलु सर्गादाविद पञ्चक कार्यभूतत्वे कारणतामुपगत तथैवेदानीमपीति कि चित्रम् । इत्थहि न जायते किंचिज्जगज्जाल नवा लक्ष्यते, सकल्पपुरमिवासदेव ब्रह्माकाशे स्वात्मनि जीवाकाशत्व सदिव प्रतीयते । जीवाकाशोऽसौ स्वमेव तस्मिन् परमेश्वरेऽणुतेज'कणोऽस्मीति यत्स्वय चेतति तदेवोच्छूनमिव विभावयति--॥१०१॥

इत्थमेतदिति । चिच्छक्त्या चेतनप्रथनशक्त्या । स्वाङ्गभूतात्मा इव स्वशरीरमिव सपन्नस्वरूप । एतत् पञ्चक त मात्रपञ्चक कल्प्यते । अनेन पञ्चकगणेन यदपीद स्थूल जगद् वितन्यते विस्तार्यते । आत्मनि आकाशरूप मिव स्वकल्पनाधिष्ठानात्मनि स्थितत्वात् सन्मयम्–न स्वत इत्यर्थ । पञ्चक तत्कार्यस्थूलभूतपञ्चकमपि चिद् ब्रह्मैव । कारणकार्ययोरेकत्वप्रसिद्धेर्हेतोरित्यर्थ । प्ररूढ जगत् त्रिजगत्क्रम ब्रह्मैवेति सिद्धम् । भूतत्वे पौर्वकालिकत्वे स्वयम् औत्तरकालिक स्व प्रत्ययेवेति शेष । कि चित्रम्–को विस्मय । जग ज्जातम् । ब्रह्माकाशे महाकाशरूपे परमप्रकाशे आत्मनि जीवाकाश सदिव असत्सदिव प्रतीयते अनुभूयते । जीवाकाश समष्टिजीवाकाश –तस्मिन् परमेश्वर कल्पित । विस्तृतमपि स्वम्, अणुतेज कण –अणु' अल्पतर स्फुलिङ्गवत् तेज कणोऽस्मीति चिन्तया तथैवात्मान चेतति अनुभवति । एत देवाभिप्रेत्य श्रूयते-'यथा अग्ने क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मन सर्वे एत आत्मानो व्युच्चरन्तीति' इति ॥१०१॥

असदेव सदाकार जीवः सकल्पचन्द्रवत् ॥
चिन्तया चिन्तयन् द्रष्टृत्वदृश्यरूपतया स्थितः ॥१०२॥

एक एक द्विता गच्छन् स्वप्ने स्वमृतिबोधवत् ॥
किंचित्स्थौल्यमिवादत्ते ततस्तारकता विदन् ॥१०३॥ (युग्मकम्)

असदेवेति । एक एवेति च । जीव यद् भावयति तत् सकल्पचन्द्रवत् सकल्पेन्दुर्यथा न सत् तथा असदेवेत्यर्थ । द्रष्टृदृश्यभावसबलनेन तस्योपचय दर्शयति–किंचिदिति । अणुतेज कणभावमपहाय तारकता तारकसादृश्य विदन् जानान । किंचित् स्थौल्यम् आदत्त इव । अयमेवाम्य भूतमात्रासवलितलिङ्गा त्मभाव १०२–१०३॥

अन्तर्भाति बहिष्ठोऽपि पर्वतो मुकुरे यथा ॥
स्वरूपतारकान्तस्थो जीवोऽय चेतयन् स्वयम् ॥१०४॥

अन्तर्भातीति । स्वप्नसकल्पयोर्बहिष्ठोऽपि विषय तद्बाह्यरूप परित्य ज्यैव अन्तर्भाति । यथा मुकुरे दर्पणे पर्वत कूपजलप्रतिबिम्बितो देह, यथा वा गुहादिसपुटगत प्रतिध्वनि वच । तथा स्वरूपतया कल्पिततारकान्तस्थ वासनामयदेहादिव्यवहार चेततीत्यर्थ ॥१०४॥

एवमुच्छूनता तस्मिन् भावयत् तेजसा कणे ॥
असत्या सत्यसंकाशा ब्रह्मास्ते जीववाच्यवत् ॥१०५॥

एवमुच्छूनतामिति । भावयत् अध्यस्यत् । ब्रह्म आस्ते । अन्यत सुगमम् ॥१०५॥

इत्थ स जीवशब्दार्थः कल्पनाक्लृप्तिकोविदः ॥
आतिवाहिकदेहात्मा चित्तरूपाम्बराकृतिः ॥१०६॥
भाविब्रह्माण्डकलना पश्यत्यनुभवत्यपि ॥
तदेतदनृताभान स्वप्ने खोड्डयन यथा ॥१०७॥ (युग्मकम्)

इत्थमिति । भावीति च । चित्तरूपाम्बराकृति चित्तरूपमम्बरमेव स्थौल्येन स्थूलदेहाकृति यस्य स । स्फुलिङ्गाकारादिबाह्यविषयान्तसकल्पनाकार ब्रह्म तदन्ते सस्थ आवरणादिसस्थायुक्तम् अण्ड ब्रह्माण्ड पश्यतीत्यर्थ । खोड्डयन व्योम्नि उत्पतनम् ॥१०६॥—१०७॥

इत्यनुत्पन्न एवासौ स्वयभूः स्वयमुत्थितः ॥
संकल्पनगरप्रख्य जगत् सदपि नैव सत् ॥१०८॥

इत्यनुत्पन्नेति । अनेन जगत परमार्थरूप सिद्धान्तितम् ॥१०८॥

अकृत चानुभूत च न सत्य सत्यवत् स्थितम् ॥
महाकल्पे विमुक्तत्वाद् ब्रह्मादीनामसशयम् ॥१०९॥

अकृतमिति । महाकल्पान्ते प्राक्तनाना ब्रह्मादीना मुक्तत्वादधारणान्न तदीयादृष्टसस्कारेण अग्रिमजगन्निर्माणम्। यस्तु ग्रासक कल्पादौ हिरण्यगर्भादिपद लभते न तेन कदापि प्राग् विचित्र जगत् सृष्टमिति अनुभवाभावे तत्सस्कारासभवाज्जगतो न सस्कारजत्वमिति । तथा च स्वप्नेन्द्रजालवद् अकस्मादेव अविद्ययैवोद्भूतत्वान्मिथ्यात्वमेव सिध्यति । एतेन नादृष्टसस्कारसामग्रीजन्य जगद् भवितुमर्हतीति सिद्धान्त उन्मीलित । ब्रह्मादीना मुक्तिस्तु— 'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्' (ब्र० सू० ३।३।३२) इति वेदान्तसूत्रे स्पष्टतया प्रतिपादिता । स्मृतावपि—

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सप्राप्ते प्रतिसचरे ।
परस्यान्ते कृतात्मान प्रविशन्ति पर पदम् ॥' इति ॥ ०९॥

सिहावलोकनन्यायेन प्रागुक्त सर्वमनुसधायोपसहरति—

आकाश एव परमे प्रथम प्रजेशो
नित्य स्वय स्फुरति शून्यतया समो य ॥
स ह्यातिवाहिकतनु र्नतु भूतरूपो
भूम्यादि तेन न सदस्ति यथा न जातम् ॥११०॥

(इति स्वयभूत्पत्तिदर्शनम्)

आकाश एवेति । परमे, ब्रह्मणि, प्रजेश स्वयभूराकाश शून्यमेव । य सम परमात्मा स एव शून्यप्रजेशाद्यात्मना स्फुरति प्रथते । हि यस्मात स प्रजेश आतिवाहिकतनु मनोमयशरीर न पाञ्चभौतिक । तेन सत्यसकल्पमात्ररूपत्वेन । भूम्यादि न सद् अस्ति । यथा न जात अनुत्पन्न शशशृङ्गादि नास्ति, तद्वदित्यर्थ । तदित्थ यथा न जात न चास्ते तथोपवर्णितमिति शेष ॥११०॥

(इति स्वयभूत्पत्तिदर्शनम्)

इत ऊर्ध्वमनक्षरमपि ब्रह्म लीलायितनिदर्शनेनाक्षरता लम्भित सद् दशकण्ठाख्यानमासमाद ॥१११॥

इत ऊर्ध्वमिति । अनक्षरमपि अनाख्येयमपि 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुतिसंवादात । लीलायितनिदर्शनेन स्वोन्मीलित सर्गाद्यनन्तप्रपञ्चजातेन अक्षरता लम्भित 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य शब्दानुगमादृते' इति नीत्या वाग्रूपता प्रतिपद्य दशकण्ठावसानम् दशकण्ठपद-मत्र श्लिष्ट द्रष्टव्यम् । दश कण्ठा कन्धरा यस्य तस्य कर्मज्ञानेन्द्रिय रूपस्येन्द्रियवर्गस्य तथा एतन्नाम्ना प्रसिद्धस्य रावणस्य च अवसान विरामम् आससाद प्रापेत्यर्थ ॥१११॥

गृहे गृहे रामचरित्रचर्चा
तज्ज्ञानचर्या तु निवेदितैव ॥
न चाधुना काव्यरसावकाश-
स्ततोऽत्र मौनव्रतमाचरामः ॥११२॥

गृहे गृहे इति । रामचरित्रचर्चेत्यनेन 'रामान्वित प्रवर्तितव्य न रावणान्वित' इति शास्त्रशिष्टसमत कर्तव्यमार्ग उन्मीलित । ज्ञानचर्या—

'येन प्रबुद्धभावेन भुञ्जानो विषयान् स्वयम् ।
न याति पाशव भाव ज्ञानचन्द्र स कीर्तित ॥'

तथा— 'सर्व जगत् स्वदेह वा स्वानन्दभरित स्मरेत् ।
युगपत् स्वामृतेनैव परानन्दमयो भवेत ॥'

'सर्वो ममाय विभव इत्येव परिजानत ।
विश्वात्मनो विकल्पाना प्रसरेऽपि महेशता ॥'

इत्येवरूपा ॥११२॥

लोकाना मातापितृभ्या परस्मै
तस्मै भूम्ने भूरिशो मे नमस्या ॥
मर्यादाना दुष्कराणा स्थली य
सीतादार राम इत्याहुरेकम् ॥११३॥

लोकानामिति । सीतादारम्–सीता दारा यस्य स तम् ॥११३॥

विदन द्विजाग्र्यो हि मुनित्वमीयात्
तद्ब्राह्मजन्मा जनकत्वमीयात् ॥

वणिक् तुलाधारसमत्वमीयाज्
जनश्च शूद्रोऽपि च मुक्तिमीयात् ॥११४॥

तात श्रीसरयूप्रसादचरणस्वर्वृ क्षसेवापरो
मातृश्रीहरदेव्यपारकरुणापीयूषपूर्णान्तरः ॥
साकेतापरमागबद्धवसतिदुर्गाप्रसादः सुधी-
रास्ते तेन कृतेऽत्र रामचरिते गुच्छस्तुरीयोऽभवत् ॥११५॥

इति श्रीमति रामचरिते वासिष्ठनिर्यासे वेदान्तरहस्य नाम तृतीयो गुच्छः।

* आदितश्चतुर्थः *

कृतिरियं श्रीमदयोध्यापरप्रान्तवर्तिपण्डितपुरीवास्तव्यद्विवेदोपाख्याचार्य श्री सरयूप्रसादपादपद्मोपजीवन श्रीदुर्गाप्रसादस्येति शिवम्।

—

परिशिष्टम्

श्लोकानुक्रमणिका

* आद्योऽङ्को गुच्छकसख्यामपरश्च श्लोकसख्या सूचयति ।

* * *